# अनुवादक के दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक 'भावना-विवेक' के मूल लेखक हैं मेरे आदरणीय श्रद्धाभाजन गुरुवर्य श्रीमान् कविरत्न पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ। यह आपकी करीब आठ वर्ष पहले की रचना है। यह संस्कृत में है। इसकी संस्कृत आकर्षक और सुबोध है। संस्कृत, कविता, प्रणयन में आप बड़े कुशल और सिद्धहस्त हैं। 'भावना-विवेक' के अतिरिक्त 'निक्षेप-चक्र', 'पावन-प्रवाह' आदि कई संस्कृत ग्रन्थों की रचनाएं आपने की हैं जो अभी पुस्तक-रूप में प्रकाशित नहीं हुई।

'भावना-विवेक' में षोडशकारण भावनाओं का वर्णन है। इन भावनाओं का जैनधर्म में जो महत्व है, उससे प्रत्येक जैनबन्धु अच्छी तरह परिचित है। भाद्रपद मास में कोई इन भावनाओं का पूजन करते हैं, कोई वर्णन सुनते हैं और कोई व्याख्यान करते हैं। इनके इतने महत्व का कारण यह है कि ये मनुष्य को तीर्थंकर बना सकती हैं। इनके बिना कभी कोई तीर्थ- नहीं हो सकता। इन भावनाओं में सारे जैनवाङ्मय का सार आगया है। ये रत्नत्रय के विस्तार स्वरूप हैं।

जहां तक मेरा खयाल है-इन भावनाओं का विस्तार से वर्णन करने वाला कोई प्राचीन या अर्वाचीन संस्कृत या प्राकृत

ग्रन्थ नहीं है। रैधू (रयधू) कवि की एक प्राकृत जयमाला देखने में अवश्य आई है। इससे प्रायः सभी विद्वान परिचित होंगे। पर इसमें इस विषय का सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन नहीं है। इसमें तो प्रधानतया षोडशकारण भावनाओं की प्रशंसा की गई है, विषय को खोल कर नहीं समझाया गया। यह कमी थी, जिसको 'भावना-विवेक' ने कुछ अंशों में पूरा किया है।

जब मैंने इस ग्रंथ को देखा तो मेरी इच्छा हुई कि इसे हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित कराया जाय। क्योंकि हिन्दी अनुवाद के बिना साधारण जनता इससे कोई लाभ नहीं उठा सकती थी। यह विचार मैंने मूल लेखक महोदय से प्रकट किया और उन्होंने इसका हिन्दी अनुवाद करके प्रकाशित कराने की स्वीकारता दे दी। अनुवाद करने का यह मेरा प्रथम प्रयास है। मुझे भी ऐसा लगता है कि अनुवाद जैसा होना चाहिये वैसा नहीं हुआ। फिर भी मुझे इससे असन्तोष नहीं है, क्योंकि इस अनुवाद को मैंने इस क्षेत्र में पदार्पण करने का साधन-मात्र माना है।

मेरे चिरमित्र और सहाध्यायी श्री पं० श्रीप्रकाश जी शास्त्री, न्याय-काव्यतीर्थ ने इस अनुवाद में मुझे पर्याप्त सहायता दी है। विनय-सम्पन्नता' एवं 'शीलव्रतेष्वनतिचार' नामक भावनाओं में कई अंश तो केवल उन्हीं की रचना हैं। इसके लिये मैं उनका काफी कृतज्ञ हूं। मूल लेखक महोदय की असीम कृपा के लिये तो मैं क्या कहूं। मेरे पास इतने शब्द नहीं जो मैं उनके प्रति

कृतज्ञता प्रकट कर सकूं। मैं तो केवल यही कह सकता हूं कि जैसा और जो कुछ मैं हूं—सब इन्हीं की कृपा का फल है।

इस पुस्तक का प्रकाशन 'सद्बोध-ग्रन्थमाला' से हुआ है। यह इस ग्रन्थमाला का प्रथम पुष्प है। इस ग्रन्थमाला की स्थापना श्रद्धेय गुरुवर्य श्री पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ के सत्-प्रयत्न से हुई है। आपका उद्देश्य कि इस ग्रन्थमाला से जैन-ग्रन्थ प्रकाशित होते रहें और कम कीमत में जनता के पास पहुंचें। मेरे चिर मित्र पं० मिलापचन्द्र जी शास्त्री न्यायतीर्थ ने अपने स्वर्गीय पूज्य पिता जी श्री मगनलाल जी पहाड्या की स्मृति में इस ग्रन्थमाला को १५०) रु० प्रदान किये हैं। आपके अतिरिक्त एक दानी सज्जन ने भी जो अपना नाम प्रकट नहीं करना चाहते—इस ग्रंथमाला को १५०) रु० प्रदान किये हैं। आप लोगों का विचार है कि यह रकम ज्यों की त्यों बनी रहे और पुनः पुनः इससे ग्रन्थ प्रकाशित होते रहें। उक्त दान के लिए दोनों महानुभावों को धन्यवाद है। स्वर्गीय श्री मगनलाल जी पहाड्या का चित्र साथ में है।

प्रस्तुत पुस्तक का मुद्रण श्री पं० अजितकुमार जी शास्त्री ने अपने अकलंक प्रेस मुलतान से किया है। आपने इस पुस्तक को बहुत सावधानी से छापा है। प्रूफ आदि देखने में आपको बहुत समय लगाना पड़ा। एतदर्थ धन्यवाद। प्रेस कापी को दुबारा देखने का समय न मिलने एवं जल्दी के कारण कई अशुद्धियां रह गई हैं। कई जगह टाइप उठा नहीं है। अतः आवश्यक

शुद्धि-अशुद्धि पत्र साथ में दे रहे हैं। पाठकों से हमारा अनुरोध है कि वे इसके अनुसार पुस्तक को शुद्ध कर लें। एवं अन्य भी अशुद्धियां दृष्टि आवें तो उन्हें सुधार कर पढ़ने का कष्ट करें।

यदि पाठकों ने इस पुस्तक को पढ़ कर कुछ भी आत्म-ज्ञान प्राप्त किया एवं अपने जीवन में इन भावनाओं को उतारने का तनिक भी प्रयत्न किया तो हम अपने परिश्रम को सफल समझेंगे। जनता से निवेदन है कि इस पुस्तक को अपनावे। ग्रंथमाला शीघ्र ही दूसरा पुष्प निकाल रही है।

भाद्रपद<br>
वीर सं० २४६७<br>
वि० सं० १९९८

निवेदक—<br>
भंवरलाल न्यायतीर्थ,<br>
अनुवादक

## ❋ शुद्धि-पत्र ❋

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| १ | १ | ग्रर्भावै | यैर्भावै |
| २१ | १७ | चिन्तता | चिन्तना |
| २२ | २० | तीर्थंकरप्रकते | तीर्थंकृत्प्रकृते |
| ३८ | ८ | की | की ऐसी बात नहीं |
| ४७ | २० | सप्ताष्टमं पाद-युगं तथाहुः | सप्ताष्ट्युग्मं क्रम-युग्ममाहुः |
| ५३ | १५ | पदार्थ न हो | पदार्थका वियोग न हो |
| ५४ | २१ | संहे | सहे |
| ५८ | १३ | मतिः स्यात् | गतिः स्यात् |
| ५६ | १६ | द्रविणादिद्रव्यम् | द्रविणादिवस्तु |
| ६३ | १२ | दृष्टिस्त्वप्रतिच्चणम् | दृष्टिस्तत्र प्रतिच्चणम् |
| ६४ | १६ | नारको | नारकः |
| ६५ | २० | नारथात्रा | नारथात्राद्य |
| ६८ | २० | क्षुत्तृट् | तृट्क्षुत् |
| ६८ | २१ | विचिकित्सता | विचिकित्सिता |
| ७७ | ६ | प्राप्ति होगी | × × |
| ८० | १३ | उपगूहनमिदं | उपगूहमिदं |
| ८० | १३ | केचिदङ्ग | केचिदङ्गं |
| ८३ | २२ | अंगद्वये ही | अंगद्वये तत् |
| ८८ | २१ | नपेत्ताभेद | नपेत्तभेद |
| १०८ | २ | प्रत्ययेन | हेतुनेदं |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ११० | १४ | मोहत्रस्य | मोहत्रयस्य |
| ११२ | ६ | सप्तमान्तं | सप्तमान्तं तु |
| ११८ | १६ | संजातम् | संजातः |
| ११६ | २ | च्चायोप | च्चयोप |
| १२१ | १७ | दृष्टि र्हि | दृष्टेर्हि |
| १२५ | २ | मार्ग प्रति | मार्ग प्रति |
| १४५ | ४ | श्रद्धाने | विश्रंभे |
| १४८ | ११ | शुद्धाहि | शुद्धो हि |
| १४६ | ८ | रुक्ता | रुक्तो |
| १५२ | १ | उच्चासन | उच्चास |
| १५५ | २० | जाता | जाता है |
| १५७ | १४ | नियमों | विषयों |
| १७६ | ११ | इसीलिए है । | इसीलिये यह यमरूप है |
| १६२ | १७ | ह्येप | चैष |
| १६४ | ११ | रिमन् | स्मिन् |
| २२४ | ६ | हितङ्कराः | क्षेमङ्कराः |
| २३२ | ८ | महन् | महंत् |
| २५७ | २ | कपायश्चाऽ | कपायश्च ह्य |
| २५७ | १८ | व्याप्तों स्याद्वादों | व्याप्तः स्याद्वादः |
| २७३ | १८ | मतंद्वयन्त्र | मतद्वयंत्र |
| २७४ | ११ | हितङ्करो | हिताश्रयो |
| २८० | २ | कर्मच्चार्थं | कर्मच्चयार्थं |

## स्व० श्री मगनलाल जी पहाड्या

जन्म—
मगसिर शु० ११ सं० १९२७

स्वर्गारोहण
पौष कृ० १४ सं० १९९३

❀ श्री ज़िनेशिने नमः ❀

# भावना-विवेक

( भाषा टीका सहित )

**यर्भावैर्मोहतन्त्रोऽय-मात्मतन्त्रो भवेन्नरः ।**
**तान् भावानानुमो नित्यं मनसा कर्मणा गिरा ॥१॥**

जिन भावों से, मोह के अधीन यह मनुष्य आत्मतंत्र (अपने अधीन) हो जाता है, संसार में दुख देने वाले कर्मों को नष्ट कर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है, स्वतन्त्र हो जाता है, उन भावों को मैं सर्वदा मन वचन काय से पूर्ण रूपेण नमस्कार करता हूं।

जीव की स्वतन्त्रता और परतन्त्रता के, बन्ध और मोक्ष के, सुख और दुःख के कारण उसके भाव ही हैं। अशुद्ध भाव जीव को कर्म परतन्त्र बनाते हैं और शुद्ध भाव उसे कर्म बन्ध से छुड़ाते हैं। जब तक यह जीव कर्मों के आधीन रहता है तब तक उसे असली सुख नहीं मिलता। कर्म बन्धन से छुटकारा पाकर जब

यह आत्मा के स्वरूप में लीन होता है तभी वास्तविक सुख को पाता है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चरित्र जीव के शुद्ध भाव हैं—स्वभाव हैं। वे इसे मोह की परतन्त्रता से हटा कर स्वाधीन बनाते हैं। मिथ्या दर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र जीव के अशुद्ध भाव हैं—स्वभाव नहीं, कर्मोदय से उत्पन्न हुए विभाव परिणाम हैं। ये जीव को स्वाधीन नहीं होने देते। जब जीव अपने असली स्वभाव को पहचानता है तब वह मोह को छोड़ कर अपने आत्मिक स्वरूप में लीन हो जाता है। इस लिए मोहतन्त्रतासे छुड़ाकर जीवको आत्मतन्त्र बनाने में शुद्ध भावोंकी ही प्रधानता समझनी चाहिये। उन्हीं भाव-सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चरित्र को इस श्लोक में मन वचन और काय से नित्य नमस्कार किया है और साथ ही इस जीव की वर्तमान दशा, उसके कारण, अपनी भावनाओं से स्वतन्त्र बन सकने की सामर्थ्य तथा बन्धन से उन्मुक्त कर स्वाधीन बनाने वाले भावों की वन्दनीयता के हेतु को भी प्रदर्शित कर दिया है।

यदि हम जानना चाहें कि जीव की वर्तमान दशा क्या है? तो उत्तर मिल जाता है कि यह जीव इस समय कर्म-बन्धन से परतन्त्र है।

परतन्त्र क्यों है? मोह के आधीन होने से। मोह कर्म जीव के साथ ऐसा लगा है कि जिसके रहते हुए जीव सहसा बन्धन मुक्त नहीं हो सकता। जीव के कर्मबन्ध और पराधीनता

का यही प्रधान कारण है। इसके साथ और कर्म भी बन्ध के कारण बन जाते हैं। यदि यह न रहे तो और कर्म अपना विशेष फल नहीं दिखा सकते। जैसे—मोह के साथ जो अज्ञान (कुज्ञान) होगा वह बन्ध का कारण होगा, स्वतन्त्र अज्ञान नवीन बन्ध का कारण नहीं हो सकता। मोह को महामद माना गया है। जिस तरह तेज शराब पीने वाले मनुष्य को अपने और पराये का ज्ञान नहीं रहता वैसे ही जीव भी मोह के नशे में पागल हो जाता है; अपने स्वरूप को भूल जाता है और पर-पदार्थों में भी आसक्ति करने लगता है। यदि वह इस मोह कर्म से उन्मुक्त हो जाय तो स्वतन्त्र हो सकता है। जिस जीव के जितना तीव्र मोह है वह उतना ही अधिक बद्ध है और जिसको शुद्ध भावों की जितने अधिक रूप में प्राप्ति हो चुकी है वह उतने ही अधिक अंशों में आत्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर चुका है, मोक्ष के निकट पहुंच गया है। चाहे तो प्रत्येक भव्य इन शुद्ध भावों के अवलम्बन से अपने को मोह की परतन्त्रता से छुड़ा कर आत्मिक स्वतन्त्रता के स्थान मोक्ष तक पहुंचा सकता है।

अपना सब से अधिक उपकार करने वाला ही संसार में नमस्कार और स्मरण करने योग्य समझा जाता है। ये रत्नत्रय रूप शुद्ध भाव जीव के सब से अधिक उपकार करने वाले हैं। इस लिये यहां उनको नमस्कार किया है।

आगे के श्लोक में यह दिखलाते हैं कि श्रद्धा, ज्ञान और आचरण के विना यह जीव संसार में परिभ्रमण करता है अतः

संसार से पार करने वाले ये ही भाव नमस्कार करने योग्य हैं।

यान् स्वभावान् विना भ्रान्ताः विभ्रमाक्रान्तचेतसः।
ते भावाः स्युर्निराबाधं मन्नमस्कृति-गोचराः ॥२॥

मिथ्याज्ञानी जीव जिन सम्यग्दर्शनादि स्वभाव-स्वाभाविक धर्मों-की प्राप्ति के विना संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं वे स्वभाव बिना किसी प्रकार की बाधा के मेरे नमस्कार के विषय बनें।

जब तक सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति नहीं होती तब तक इस जीव पर विपरीत ज्ञान का प्रभाव रहता है और उसके प्रभाव के कारण ही अपने हित-अहित को न पहचानता हुआ यह अनेक तरह से कर्मबन्ध करके अपने संसार की सन्तति को बढ़ाता रहता है और चतुर्गति में भ्रमण करके जन्म मरण के दुःख सहता रहता है। अथवा यों कहना चाहिये कि सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति न होना ही जीव का संसार है और उनकी प्राप्ति ही मोक्ष है। उक्त पद्य से उन्हीं परम मोक्ष के कारण भूत शुद्ध स्वभावों को अपने नमस्कार के विषय बनाना चाहते हैं। और "श्रेयांसि बहु-विघ्नानि" यानी—अच्छे कामों में बहुत विघ्न आते हैं—इस कथन का ख्याल करके अपने इस नमस्कार रूप पवित्र कार्य में कोई विघ्न न आवे इसके लिए 'निराबाधं' पद देकर इसमें विघ्न का अभाव होने की प्रार्थना और उत्कट इच्छा भी प्रकट करते हैं।

आगे के पद्य में यह बतलाते हैं कि अरिहंत सिद्ध आचार्य

उपाध्याय और साधु ये पांच परमेष्ठी भी सम्यग्दर्शनादि भावों के द्वारा ही बनते हैं अतः पाठकों को उन भावों को ही नमस्कार करना चाहिये ।

**सकलाः विकलाः सर्वे सर्वज्ञा परमेष्ठिनः ।**
**त्रयश्चान्ये भवन्तीह भावैर्भावान्नमस्कुरु ॥३॥**

सकल (शरीर सहित) और विकल (शरीर रहित) सर्वज्ञ अर्थात अरिहंत और सिद्ध परमेष्ठी तथा अन्य तीन आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी—ये सब भावों से ही बनते हैं, इस लिए भावों को नमस्कार करो क्योंकि इन पूज्य पदों के भाव ही मूल कारण हैं—उनकी समाराधना से ही हम इन पूज्य पदों को प्राप्त कर सकते हैं ।

जो परमपद—लोक से पूज्यपद—में स्थित रहे उसे परमेष्ठी कहते हैं । परमेष्ठी पांच हैं—अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु । इनमें साधु पद सामान्य है । जो भी गृह सम्बन्धी आरम्भ परिग्रहों का त्याग करके अपने आत्म—कल्याण के मार्ग में लग गया है उसे साधु कहते हैं । आचार्य और उपाध्याय पद विशिष्टता के द्योतक हैं । जो साधु संघ में पाठन का काम करते हैं वे उपाध्याय हैं और संघ के नेता आचार्य कहे जाते हैं। सामान्य साधुओं से इनके भाव कुछ चढ़े हुए होते हैं । अरिहंत और सिद्ध परमेष्ठी का स्थान सब में उत्कृष्ट है । अरिहंत परमेष्ठी को सशरीर मुक्त और सिद्ध परमेष्ठी को अशरीर मुक्त कहते हैं । अपरनिःश्रेयस

और परनिःश्रेयस शब्दों से भी इन्हीं पदों को सम्बोधित किया जाता है। इनका विशेष स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिये :—

तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीवों को सशरीर मुक्त या जीवनमुक्त कहते हैं। क्षपक श्रेणी+ वाले जीव के दशवें गुण-स्थान के अंत में मोहनीय कर्म का नाश हो जाने पर बारहवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है और फिर अंतर्मुहूर्त÷ के बाद ज्ञाना-वरणीय दर्शनावरणीय और अंतराय कर्मके एक साथ नष्ट हो जाने से वह जीव तेरहवें गुण-स्थान को प्राप्त होता है। इस गुणस्थान तक जीव के सब मिला कर कर्मों की १४८ प्रकृतियों में से ६३ प्रकृतियें नष्ट हो चुकती हैं। अर्थात ज्ञानावरणीय की ५ दर्शना-वरणीय की ९ मोहनीय की २८ अंतराय ५ नामकर्म* की १३ और

---

\+ चरित्र मोहनीय कर्म की अवशिष्ट २१ प्रकृतियों का जहां क्षय किया जाय उसे क्षपक श्रेणी कहते हैं।

÷ मुहूर्त से कम और आवली से ज्यादा काल को अंतर्मुहूर्त कहते हैं। मुहूर्त ४८ मिनट का तथा आवली एक श्वास में असंख्यात होती है।

* नरकगति, तिर्यञ्चगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय, उद्योत, आतप, एकेंद्रिय, साधारण, सूक्ष्म और स्थावर इन नाम कर्म की तेरह प्रकृतियों का नाश होता है।

आयुकर्म÷ को ३ इस तरह इस गुणस्थान में ६३ प्रकृतियों की सत्ता नहीं रहती। और इसके फलस्वरूप उस जीव के अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंत सुख और अनंतवीर्य नामक अनंतचतुष्टय तथा क्षायिक-सम्यक्त्व, क्षायिक-चारित्र, क्षायिक-ज्ञान, क्षायिक-दर्शन, क्षायिक-दान, क्षायिक-लाभ, क्षायिक-भोग, क्षायिकोपभोग, क्षायिक-वीर्य— ये नव केवल लब्धियां प्रकट हो जाती हैं। उस अनंत ज्ञानधारी जीव को पूर्ण परमात्मत्व पद प्राप्त हो जाता है। यह तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीवनमुक्त सयोग केवली का संक्षेप में स्वरूप है।

इसके पश्चात् जब जीव चौदहवें गुणस्थान में चढ़ता है तो उसके कर्मों के आगमन का द्वार सर्वथा बंद हो जाता है। तथा सत्ता एवं उदयावस्था में प्राप्त कर्मों की सर्वोत्कृष्ट निर्जरा होने से वह कर्मों से सदा के लिये मुक्त होने के सन्मुख रहता है। शील के अठारह हजार भेद बताये गये हैं उनका वह स्वामी हो जाता है। संवर और निर्जरा का पूर्ण पात्र वह जीव काय योग से भी रहित हो जाता है और इसी लिये उसको अयोग केवली कहते हैं।

उक्त दोनों गुणस्थानवर्ती जीव अरिहंत कहलाते हैं जिन्हें अपरनिःश्रेयस के धारक कहना चाहिये। परनिःश्रेयस शब्द सिद्ध पद के लिए कहा जाता है। सिद्धपद गुणस्थानों के बाद की अवस्था है जहां पर केवल आत्मा अपने में ही रमण करता है।

---

÷ नरकायु तिर्यगायु और देवायु इन तीन आयुकर्मकी प्रकृतियों का नाश होता है।

उस आत्मा का स्वरूप निराकार निरञ्जन है, क्योंकि वह आत्मा आठ कर्मों से रहित हो चुका—घाति या अघाति कोई भी कर्म उसके बाकी नहीं रहा। उस आत्मा के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय मोहनीय अंतराय वेदनीय आयु नाम और गोत्र इन आठ कर्मों के सर्वथा नष्ट हो जाने से क्रमशः ज्ञान, दर्शन, सुख÷ वीर्य, अव्याबाध अवगाहन, सूक्ष्मत्व और अगुरुलघु ये आठ गुण प्रकट हो जाते हैं। उस जीव को अब कुछ भी करना बाकी नहीं, इस लिये वह कृत-कृत्य हैं। उसकी यह अवस्था सादि अनंत है क्योंकि वह फिर कभी इस संसार में नहीं आ सकता। लोक के अग्रभाग में उसी जीव का निवासस्थान है क्योंकि धर्म एवं अधर्म द्रव्य की स्थिति यहां ही तक है। ऐसे जीव को सिद्ध परमेष्ठी कहते हैं। इस सिद्ध परमेष्ठी के सिद्ध गति, केवलज्ञान, क्षायिकदर्शन क्षायिक सम्यक्त्व और उपयोग की अक्रम प्रवृत्ति रहती है। यह परमेष्ठी गुणस्थान, जीव समास, संज्ञा, पर्याप्ति, दशप्राण, आहार आदि से रहित होते हैं और इनके सिद्धगति, ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व और अनाहार को छोड़ कर बाकी नौ मार्गणायें नहीं होतीं। अवशिष्ट तीन परमेष्ठियों का स्वरूप इस ही ग्रंथ में आगे वर्णन किया है, इस लिये यहां नहीं किया गया।

यह जीव भावों से ही नरकादि गतियों वाला एवं तीर्थङ्कर बनता है इस लिए भावों को स्वीकार करना चाहिए—यही बात

---

÷ कहीं २ पर सुख के बजाय सम्यक्त्व कहा गया है।

आगे वाले पद्य में कहते हैं:—

भावैस्तिर्यङ् नरः स्वर्गी नारकश्चेतनो भवेत् ।
भावैस्तीर्थकृतस्तस्मात्सद्भावानुररीकुरु ॥ ४ ॥

यह चेतन ( जीव ) भावों से ही तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और नारकी बनता है तथा भावों से ही तीर्थङ्कर होता है। इस लिये समीचीन भावों को ग्रहण करो।

जिस जीव के जैसे भाव होते हैं उसको वैसा ही फल मिलता है। कभी अपने भावों के विपरीत फल नहीं मिलता। चारों गतियां एवं तीर्थङ्कर का पुण्य पद भी भावों का ही परिणाम है। जिसके परिणामों में हमेशा कुटिलता और मायाचार रहता है वह तिर्यञ्च बनता है। जिसके परिणाम नितांत अशुभ रहते हैं, जो दूसरों को दुख देना चाहता है, कलह-प्रिय होता है और कुत्तों की तरह लड़ता-झगड़ता रहता है उसे नारकीय जीवन प्राप्त होता है। जो दूसरों को सुखी बनाना चाहता है, पुण्य का संचय करता है उसे स्वर्ग मिलता है। तथा जो सादा जीवन व्यतीत करता है और महान कार्य करना अपने जीवन का उद्देश्य बनाता है उसे मानव शरीर की प्राप्ति होती है। जिस सम्यग्दृष्टि महात्मा की भावना संसार के जीवों का कल्याण करने की होती है वह तीर्थङ्कर के पूज्य पद को पाता है। सार यह है कि निजी भाव ही सब कुछ हैं और उनसे जीव अपने को जैसा चाहे बना सकता है। सद्भावों से सद्गति और बुरे भावों से दुर्गति प्राप्त

होती है। यदि तुम उत्तम गति प्राप्त करना चाहते हो या पवित्र बनना चाहते हो तो सद्भावों को स्वीकार करो, अपने भावों को पवित्र बनाओ, बुरी विचार धारा को कभी हृदय में स्थान न दो।

आगे के श्लोक में यह बताया गया है कि यह जीव भी भावमय ही है:—

**जीवोह्ययं भावमयः प्रदिष्टो-**
**मनीषिभिः जीवरहस्यविद्भिः।**
**ततः स्वकीयात्म-विलोकनाय,**
**भावान् समालोकय मोहमुक्तः ॥५॥**

जीव तत्व के रहस्य को जानने वाले विद्वानों ने जीवात्मा को भावमय बतलाया है। इस लिये अपने आत्मा का दर्शन करने के लिये मोह को त्याग कर अपने भावों का ही अवलोकन करना चाहिये।

जिस तरह जल की अनंत तरंगों के अतिरिक्त समुद्र और कोई चीज़ नहीं है उसी प्रकार विभिन्न भावों की लहरों के अतिरिक्त जीव तत्व भी कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है। विभिन्न चैतन्य भावमय वस्तु को ही हम 'जीव' शब्द से सम्बोधित करते हैं। इस लिये यदि हम आत्मा का रहस्य जानना चाहते हैं तो पहले हमें भावों का रहस्य जानना चाहिये। पर इस रहस्य निदर्शन में मोह का परित्याग नितांत आवश्यक है। यदि भ्रम बुद्धि और आसक्ति हमारे साथ रहेगी तो भावों की हेयता और

उपादेयता का हमें ठीक ठीक पता नहीं चलेगा अतः मोह-रहित हो कर भावों का निरीक्षण करना चाहिये।

भाव उपेक्षा करने योग्य वस्तु नहीं हैं क्योंकि:—

**भावोऽस्ति नाको निरयोऽस्ति भावः,**
**तिर्यङ्नरो भावमयस्तथास्ति।**
**सिद्धोऽपि भावात्मक एव नूनम्,**
**ततो न भावाः समुपेक्षणीयाः ॥६॥**

भाव ही स्वर्ग हैं, भाव ही नरक हैं, भाव ही तिर्यञ्च हैं और भाव ही मनुष्य हैं। सिद्धावस्था भी भावात्मक है इस लिये मनुष्य को कभी भी भावों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

जीव की जिस भी अवस्था की ओर हम ध्यान दें उसमें भावों के अतिरिक्त और किसी की भी प्रधानता नहीं है। यदि हम भावों की ओर ध्यान न दें तो वहुत अनर्थ हो जायगा और हमारा पतन होना निश्चित है। प्रत्येक प्राणी को इस सम्बन्ध में सदैव सतर्क रहने की आवश्यकता है। अच्छे-बुरे भावों पर दृष्टि रखना और बुरे भावों की कभी भी उपेक्षा न करना ही श्रेयस्कर है। यही आत्म—निरीक्षण की कसौटी है। जो इस कसौटी का उपयोग न करेगा उसके मनुष्य होने से कोई लाभ नहीं है।

षोडश भावनायें आत्म-भावों को छोड़ कर और कुछ नहीं हैं:—

या भावनाः षोडश जैन-शास्त्रे,
तीर्थ-प्रणेतृत्व-निदान-भूताः ।
व्यावर्णितास्ता न च भावबृन्दम्,
विहाय किञ्चित् परमस्ति नूनम् ॥७॥

जैन शास्त्रों में जो तीर्थङ्कर प्रकृति की कारण भूत सोलह भावनायें बतलाई गई हैं, वे भी भावों को छोड़कर और कुछ नहीं हैं।

दर्शन विशुद्धि, विनय संपन्नता आदि शोडश भावनायें—जिनका कि स्वरूप इस ग्रन्थ में बताया जायगा—तीर्थंकर प्रकृति के वन्ध में कारणभूत मानी गई हैं। यदि हम विचार करें तो वे भावनायें भी, जिनसे तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध होता है और जिनके विना कभी कोई तीर्थंकर नहीं बन सकता—भाव समुदाय को छोड़ कर और कोई वस्तु नहीं। आत्मभाव ही उक्त भावनायें हैं।

किन भावों से तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध होता है—यह आगे के श्लोक में बताते हैं:—

जगदुद्धारकैर्भावैः तीर्थकृत्त्वाभिधं महत् ।
आत्माऽयं कर्म बध्नाति ततस्तीर्थंकरो भवेत् ॥८॥

यह आत्मा संसार के उद्धार की इच्छाओं से पूर्ण भावों से तीर्थंकर नामके महान—पुण्य कर्म को बांधता है और उस

तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति के बन्ध से ही तीर्थङ्कर होता है।

जिस की इच्छाऐं और प्रबल भावनाऐं यह रहती हैं कि मैं संसार का उद्धार करूं, जगत के दुखी जीवों को सुख का मार्ग बताऊं और उनका कल्याण करूं, उसी के तीर्थंकर नाम की महान पुण्य प्रकृति का बंध होता है और वही तीर्थंकर के पूज्य पद को पाता है। विश्व सेवा और विश्व-कल्याण की उत्कट भावना ही जीव को तीर्थंकर सरीखे महान पद को पहुंचाती है।

सेवक ही वास्तव में स्वामी बनता है—यह ग्रन्थकार बताते हैं:—

जगत्सेवा-चिकीर्षुर्यः स स्वामी जगतो भवेत्।
इत्येवं ख्यापयत्येषा तीर्थकृत् प्रकृतिः परा ॥६॥

'जो जगत की सेवा करना चाहता है वह जगत का स्वामी बनता है।' यह तीर्थंकर नाम की उत्कृष्ट कर्म प्रकृति हमें इसी बात को सूचित करती है।

तीर्थंकर प्रकृति हमें सिखलाती है कि जो संसार की सेवा करने की इच्छा रखता है वही संसार का स्वामी बनता है। सेवा करने के भाव या दूसरों का भला करने की इच्छाओं से मनुष्य दास नहीं बनता; अपितु उनका स्वामी बन जाता है। वह जिन की सेवा करना चाहता है वे उसे अपना स्वामी समझते हैं—उस की पूजा करते हैं। तीर्थंकर भी पहले संसार की सेवा करना चाहते हैं इसी लिये वे संसार के स्वामी बनते हैं और त्रिलोकी के

जीव उनकी पूजा करते हैं। सार यह है कि जो कोई दूसरों के लिये पूज्य बनना चाहता है उसे चाहिये कि वह अपने आपको उनके सेवक रूप में प्रस्तुत करे। ऐसा करने से ही वह महान बन सकेगा और संसार के हृदय में अपने प्रति श्रद्धा और आदर-भाव उत्पन्न कर सकेगा।

आगे के पद्य में बताया जाता है कि कौन किस तरह तीर्थंकर प्रकृति का बंध करता है—

अपायविचयाख्येन धर्म्यध्यानेन बध्यते।
तीर्थकृत् कर्म कर्मघ्नं सम्यग्दृष्टिमहात्मना ॥१०॥

सम्यग्दृष्टि महात्मा अपायविचय नाम के धर्म्यध्यान से कर्म सन्तति का नाश करने वाले इस तीर्थंकर कर्म को बांधता है।

स्वपर के दुःखों को दूर करने के उपाय का चिन्तवन करना 'अपाय विचय' धर्म्यध्यान है। इस अपाय-विचय धर्म्य ध्यान के साथ जो दर्शन-विशुद्धि आदि षोडश भावनाओं का चिंतवन करता है उस सम्यग्दृष्टि महात्मा के ही उक्त तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है- अन्य के नहीं। इसका अर्थ यह है कि षोडश कारण भावना के बिना किसी के तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता और जो षोडश कारण भावना को भाने वाले हैं उनके भी इसका बंध होना निश्चित नहीं है। जो सम्यग्दृष्टि है और षोडशकारण भावनाओं के साथ जिसके हृदयमें जगत कल्याण की भावना है वही महा मा इस श्रेष्ठ प्रकृति का बंध कर सकता है।

इस लिये यह समझना चाहिये कि जब कभी किसी जीव के तीर्थंकर प्रकृति का बंध होगा वह सम्यग्दर्शन और जगत-कल्याण की सदिच्छा के साथ षोडश भावनाओं का चिंतवन करने से ही होगा। सम्यग्दर्शन और षोडशकारण भावनाओं का चिंतवन करने पर अवश्य तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो ही जायगा—यह नियम नहीं है।

इस तीर्थंकर कर्म प्रकृति को 'कर्मघ्न' कहा गया है। इससे यह समझना चाहिये कि अन्य जितनी भी कर्म प्रकृतियां हैं, वे सब जीव के बंध का कारण हैं। केवल यह तीर्थंकर प्रकृति ही ऐसी है जो स्वपर की कर्मसंतति का उच्छेद करने में सहायता देती है। 'विषस्य विषमौषधम्' कहीं कहीं पर जहर की दवा जहर भी हो जाती है।

तीर्थंकर प्रकृति का बंध कहां होता है—आगे यह बतलाते हैं:—

> केवलिश्रुतकेवल्योः पादमूले स्थितो नरः।
> कर्मभूमिभवो ह्येतत् कर्म बध्नाति केवलम् ॥११॥
> एतयोः सन्निधाने हि तादृग् भावोद्भवो मतः।
> भावोत्पत्तौ निमित्तानां सन्निधिः कारणं खलु ॥१२॥

केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में ही कर्म-भूमि वाला पुरुष इस तीर्थंकर कर्म का बंध करता है क्योंकि उनके पास में ही इस तरह के भाव हो सकते हैं। इस लिए इन भावों की

उत्पत्ति में वे निमित्त हैं और उनका पास रहना ही इन भावों की उत्पत्ति में कारण है। कार्यों की उत्पत्ति में निमित्त कारणों का सहयोग कितना आवश्यक है यह सभी जानते हैं।

पुण्य प्रकृतियों का बंध बांधने के लिये जीव को उन बातों की आवश्यकता नहीं होती जिन बातों की तीर्थंकर प्रकृति के बंध के लिए होती है। तीर्थंकर प्रकृति कोई साधारण प्रकृति नहीं। इसकी प्राप्ति बहुत दुर्लभ है। पुण्य के उदय से ही वे साधन प्राप्त होते हैं जिनसे कि इस पवित्र प्रकृति का बंध हो सके। भावों का उत्कर्ष ही इस प्रकृति के बंध में मुख्य बात है। हितोपदेशी, सर्वज्ञ, केवली भगवान के निकट अथवा आचारांगादि द्वादशांग के पारगामी श्रुत केवली भगवान के निकट ही तीर्थंकर प्रकृति को बांधने योग्य निर्मल भाव हो सकते हैं—अन्यत्र नहीं। इस लिए इनके समक्ष इस प्रकृति का बंध होता है। जब केवली या श्रुत केवली न हों तो इस प्रकृति का बंध नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, केवल कर्मभूमि में उत्पन्न होने वाला जीव ही इस योग्य होता है कि वह इस शुभ प्रकृति का बंध कर सके। भोगभूमि में उत्पन्न होने वाले जीव के भावों की विशुद्धता उतनी नहीं हो सकती। कर्म भूमि में भी केवल पुरुष लिंगधारी जीव ही इस प्रकृति को बांध सकता है, अन्य नहीं—ऐसा शास्त्र का कथन है।

आगे दृष्टांत द्वारा यह बताते हैं कि केवली वा श्रुतकेवली के समक्ष ही पुरुष इस प्रकृति को बांध सकता है:—

श्रीकृष्णेन कृतो बंध एतस्याः प्रकृतेः खलु ।
नेमिनाथ-जिनेशस्य पादमूले महीयसि ॥१३॥
श्रेणिकेन तु वीरस्य समक्षे मोक्ष-दायके ।
एतत्-प्रकृति-बंधो हि कृतः क्लेशविनाशकः ॥१४॥

श्री कृष्ण ने इस तीर्थंकर प्रकृति का बंध श्री भगवान नेमिनाथ के पवित्र पादमूल में किया था और इसी तरह राजा श्रेणिक ने सम्पूर्ण क्लेशों का नाश करने वाला इस प्रकृति का बंध भगवान महावीर के मुक्तिदायक चरणारविंदों में किया था।

श्री कृष्ण और राजा श्रेणिक की कथाएं प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक भाई जानता है कि कि उक्त दोनों व्यक्तियों ने क्रमशः नेमिनाथ और महावीर के समक्ष तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया था और आगे होने वाले चौवीस तीर्थंकरों में उक्त दोनों जीव तीर्थंकर बनेंगे। इनकी कथाएं पुराणों में देखी जा सकती हैं।

कौन से सम्यग्दर्शन से इस प्रकृति का बंध होता है—अब यह वर्णन करते हैं:—

क्षयादुपशमाच्चैव क्षयोपशमतस्तथा ।
उत्पन्नं दर्शनं नूनं एतद् बंधं करोति हि ॥१५॥

दर्शन मोहनीय और अनंतानुबंधी चतुष्टय के क्षय, उपशम तथा क्षयोपशम से उत्पन्न सम्यग्दर्शन तीर्थंकर प्रकृति का बंध करता है।

दर्शन मोहनीय और अनंतानवंधी चतुष्टय के सर्वथा क्षीण हो जाने पर जो पदार्थों का निर्मल श्रद्धान होता है उसे क्षायिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह सम्यक्त्व सादि अनंत है। एक वार उत्पन्न हो जाने के वाद कभी नष्ट नहीं होता और इसका धारण करने वाला जीव चार भव से अधिक भव नहीं लेता। मुक्ति का साक्षात्कारण यही सम्यक्त्व है। अवशिष्ट दोनों सम्यक्त्व तो मुक्ति के परम्परा कारण हैं। सिद्ध परमात्मा एवं वारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान-वर्ती जीवों के यही सम्यक्त्व होता है। संसार की कोई शक्ति इस सम्यक्त्व धारण करने वाले जीव को विचलित नहीं कर सकती।÷

उक्त सातों प्रकृतियों के दव जाने से औपशमिक सम्यक्त्व होता है। यह सम्यक्त्व टिकाऊ नहीं होता। अधिक से अधिक अंतर्मुहूर्त इसका काल है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के सर्व प्रथम यही सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। इसके उत्पन्न हो जाने

---

÷ वयणेहिं वि हेदूहिं वि इंदियभयआणएहिं रूवेहिं।
वीभच्छजुगुच्छाहिं य तेलोक्केण वि ण चालेज्जो ॥६४६॥
—गोम्मटसार जीवकांड

अर्थ—श्रद्धान को भ्रष्ट करने वाले वचन या हेतुओं से अथवा इन्द्रियों को भय उत्पन्न करने वाले आकारों से अथवा ग्लानिकारक पदार्थों को देख कर होने वाली ग्लानि से किंवहुना तीन लोक से भी यह क्षायिक सम्यक्त्व चलायमान नहीं होता।

के वाद यह आत्मा कुछ कम अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल तक❀ संसार में घूम सकता है। इसके दो भेद हैं—प्रथमोपशम तथा द्वितीयोपशम। प्रथमोपशम चौथे गुणस्थान से सातवें तक और द्वितीयोपशम सातवें से ग्यारहवें तक रहता है। इनके स्वरूप का विशद वर्णन आगे किया जायगा।

अनंतानुबंधी चतुष्टय मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व इन सर्वघाती छह प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय, उपशम और देश-घाती सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। इस सम्यक्त्व को शास्त्रकारों ने सदोष अर्थात् चल, मल और अगाढ़ दोषों सहित वतलाया है। इसकी स्थिति अधिक से अधिक छयासठ सागर है+। यह सम्यक्त्व चौथे से सातवें गुणस्थान तक रहता है।

तीर्थंकृत प्रकृति का बंध क्षायिक, क्षायोपशमिक तथा उपशम के दो भेद प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम इन चारों सम्यक्त्वों में से किसी भी सम्यक्त्व में हो सकता है।

---

❀ उत्कर्षेणार्द्धपुद्गलपरिवर्तो देशोनः ॥१-८॥ —सर्वार्थ सिद्धि

अर्थात्—सम्यग्दृष्टि जीव अधिक से अधिक आधे पुद्गल परावर्तन तक संसार में रहता है।

+ क्षायोपशमिकस्य जघन्यान्तर्मौहूर्तिकी।

उत्कृष्टा षट्षष्टिसागरोपमाणि ॥१-७॥ —सर्वार्थसिद्धि

यानी—क्षयोपशम सम्यक्त्व की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति छयासठ सागर है।

इस तीर्थंकर प्रकृति का वंध कौन नहीं कर सकता है—यह बताते हैं:—

नारको नैव देवो वा तिर्यङ् नो भोगभूमिजः ।
तीर्थकृत् कर्म बध्नाति जगत्कल्याणकारकम् ॥१६॥

संसार का कल्याण करने वाली तीर्थंकर प्रकृति का वंध नारकी, देव, तिर्यञ्च और भोग भूमि में उत्पन्न होने वाला जीव नहीं कर सकता।

तीर्थंकर प्रकृति के वंध के लिये भावों की निर्मलता मुख्य साधन है। विना भावों की विशुद्धता के इसका वंध नहीं हो सकता। चारों गतियों में केवल मनुष्य गति ही ऐसी है जिसमें भावों का उत्कर्ष पूर्णरूप से हो सकता है। नरक, देव और तिर्यञ्च गति में परिणामों की अत्यधिक पवित्रता नहीं पाई जाती। यही कारण है कि इस तीर्थंकर प्रकृति का वंध केवल मनुष्य गति वाला जीव ही कर सकता है अन्य नहीं; क्योंकि शेष तीन गति वालों के भाव इतने निर्मल नहीं होते। मनुष्य गति में भी केवल कर्मभूमिज मनुष्य ही इसकी योग्यता रखते हैं—भोगभूमिज नहीं।

क्यों नहीं उक्त जीवों के इस प्रकृति का वंध होता है? इस का उत्तर:—

विश्वसेवाचिकीर्षेषु कदाचिन्नोपपद्यते ।
दुःखाज्ञानसुखादीनां ह्येकान्तस्तत्र विद्यते ॥१७॥

पहले के पद्य में बताये गये जीवों में संसार की सेवा करने की इच्छा कभी भी उत्पन्न नहीं होती क्योंकि वहां पर दुःख अज्ञान और सुख वगैरह एकांत रूप से विद्यमान हैं।

नारकी और तिर्यञ्चों में दुःख की पराकाष्ठा के साथ साथ अज्ञान का आधिक्य है। जहां दुःख के साथ अज्ञान है वहां विश्व कल्याण करने की भावना कैसे उत्पन्न हो सकती है। इन को अपने दुःखों को भोगने के अतिरिक्त दूसरों के सुख दुःख के सम्बन्ध में विचार करने की सुविधा ही प्राप्त नहीं है। देवों और भोग भूमियों के सुख का एकांत है। अर्थात् उन्हें कभी यही अनुभव नहीं होता कि दुःख नाम का कोई पदार्थ भी है। जो दुःख को ही नहीं जानता वह दुःखों को दूर करने का क्या उपाय सोचेगा। इस लिए यह कहना बिलकुल युक्ति संगत है कि देव, नारकी, तिर्यञ्च और भोग भूमि के जीव तीर्थंकर प्रकृति के बंध के योग्य नहीं हैं।

आगे यह बताते हैं कि भावना किसे कहते हैं:—

**भावनाः कथिताः शास्त्रे भाव्यमानाः पुनः पुनः।**
**भावना चिन्तता चिन्ता अमी एकार्थवाचकाः ॥१८॥**

किसी वस्तु के बारबार चिंतवन करने को भावना कहते हैं। भावना, चिंतना, चिंता आदि शब्द एक ही अर्थ को कहने वाले हैं।

एक विषय के भावों के निरंतर कुछ समय बने रहने को

ही भावना कहते हैं। भावों के अतिरिक्त भावना और कुछ वस्तु नहीं है। चिंता चिंतना आदि का भी यही अर्थ है।

पोडश कारण भावनाओं के नामः—

प्रथमा दृग्विशुद्धिर्हि विनयोपेततस्तथा।
शीलव्रतानतीचाराऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगिता ॥१९॥
संवेगः शक्तितस्त्याग-तपःसाधुसमाधयः।
वैयावृत्यं जिनाचार्योपाध्यायश्रुतभक्तयः ॥२०॥
आवश्यकापरीहाणिः तथा मार्गप्रभावना।
स्वयूथ्येषु च वात्सल्यं मता षोडश भावनाः ॥२१॥

तीर्थंकर प्रकृति के बंध की कारण भूत सोलह भावनाओं के नाम ये हैं:—१-दर्शन विशुद्धि, २-विनय संपन्नता, ३-शील-व्रतेष्वनतिचार, ४-अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, ५-संवेग, ६-शक्तित-स्याग, ७-शक्तितस्तप, ८-साधु समाधि, ९-वैयावृत्य, १०-अर्हद्भक्ति, ११-आचार्य भक्ति, १२-बहुश्रुत भक्ति, १३-प्रवचन-भक्ति, १४-आवश्यकापरिहाणि, १५-मार्ग-प्रभावना, १६-प्रवचन वात्सल्य।

ये सोलह भावनायें हैं। इन भिन्न भिन्न भावनाओं का आगे विस्तार से वर्णन किया जावेगा।

एता व्यस्ताः समस्ताश्च दृक्सहिता बंधकारणम्।
तीर्थंकरप्रकृते नूनं परायाः शुभकर्मसु ॥२२॥

ऊपर जो सोलह भावनाएं बताई गई हैं वे सम्यग्दर्शन सहित होने पर एक एक और सब मिल कर शुभ कर्मों में उत्कृष्ट जो तीर्थंकर प्रकृति है उसके बंध की कारण हैं।

दर्शन विशुद्ध्यादि सोलह भावनायें सब मिलकर और अलग अलग भी तीर्थंकर प्रकृति के बंध का कारण हैं किंतु किसी भी भावना के साथ सम्यग्दर्शन का होना आवश्यक है। सम्य-दर्शन न हो तो पंद्रह भावनायें मिलकर भी तीर्थंकर प्रकृति के बंध का हेतु नहीं हो सकतीं। यह तीर्थंकर प्रकृति कर्मों की सारी पुण्य प्रकृतियों में शिरोमणि है; क्योंकि इसी प्रकृति के उदय को अनुभव करने वाला जीव ही धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति करता है और सारे जगत को कल्याणकारी मार्ग बताता है। सारी पुण्य प्रकृतियों में इसके अतिरिक्त ऐसी कोई भी प्रकृति नहीं है जिसका जगत-कल्याण से सीधा संबंध हो। यही कारण है कि यह कर्म प्रकृति होने पर भी पूजनीय है और इसी लिये बांधने वाले जीव के आत्मा में सम्यग्दर्शन की उपस्थिति आवश्यक है।

अब प्रथम भावना दर्शनविशुद्धि का वर्णन किया जाता है:—

तत्र प्रधानभूता हि दृग्विशुद्धिर्विविच्यते।
सर्वतः प्रथमं ह्येषा सर्वाधारा यतो मता ॥२३॥

अब सबसे पहले दर्शन विशुद्धि भावना का वर्णन यहां किया जाता है। क्योंकि सब भावनाओं में यही प्रधान है। इस

की प्रधानता का कारण यह है कि यह सबकी आधार है । इसके बिना शेष पंद्रह भावनाओं को भावना ही नहीं कहा जा सकता। इसके बिना जैसे ज्ञान कुज्ञान और चारित्र कुचारित्र कहलाता है वैसे भावना भी कुभावना कहलायेगी। बीज के बिना जैसे वृक्ष नहीं हो सकता वैसे सम्यक्त्व के बिना कोई सचाई नहीं रह सकती।

दर्शन विशुद्धि का लक्षण:—

निर्दोषं दर्शनं प्रोक्तं दृग्विशुद्धिर्मनीषिभिः।
अन्वहं चिन्तना तस्या दृग्विशुद्धिर्निगद्यते ॥२४॥

आठ शंकादि दोष, आठ मद, छह अनायतन और तीन मूढ़ता इन पच्चीस दोषों से रहित सम्यग्दर्शन दृग्विशुद्धि कहलाता है। निरंतर यह चिंतवन करते रहना कि यह विशुद्ध सम्यग्दर्शन मुझे प्राप्त हो दर्शन विशुद्धि भावना है। पच्चीस दोषों का वर्णन आगे किया जायगा।

दर्शन विशुद्धि की अन्य भावनाओं में आवश्यकता—

दृग्विशुद्धिं विना चैता व्यर्था प्रोक्ता महर्षिभिः।
दर्शनालंकृतं सर्वमनुष्ठानं फलप्रदम् ॥२५॥

आचार्यों ने दर्शन की शुद्धि अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना शेष भावनाओं को व्यर्थ कहा है। क्योंकि सम्यग्दर्शन सहित ही सारे अनुष्ठान फलदायक होते हैं।

सोलह कारण भावनाओं में सबसे पहले दर्शन-विशुद्धि भावना कही गई है। इसका विस्तार से वर्णन तो आगे के पद्यों में किया जायगा किन्तु यहां पर यह जान लेना आवश्यक है कि यह भावना पहले इसी लिए कही गई है कि इस भावना के भाये विना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती और जब तक सम्यग्-दर्शन की प्राप्ति न हो तब तक सब कार्य व्यर्थ ही कहे जायेंगे। सम्यग्दर्शन सहित ही अनुष्ठान, जप तप, धर्मध्यान आदि करना लाभप्रद है। अन्यथा सम्यग्दर्शन से यदि कोई जीव भ्रष्ट है तो वह चाहे कितना ही धर्म क्यों न करे भ्रष्ट ही कहा जायगा। अनंतकाल तक भी यह जीव इस संसार की शृङ्खला को काटने में समर्थ नहीं हो सकता। इस लिये दर्शनविशुद्धि सबसे अधिक आवश्यक है।

सम्यक्त्व के साथ शुभोपयोग की भी आवश्यकता है:—

**बंधबंदकभावो हि गुणस्थाने न यत्र तु,**
**सम्यक्त्वं केवलं तत्र बन्धकारणमिष्यते।**
**शुभोपयोगसहितं, केवलं तन्न कारणम् ॥२६॥**

—( षट्पदी )

जिन गुणस्थानों में बंध और बंदक भाव नहीं होता वहां पर शुभोपयोग सहित सम्यक्त्व ही तीर्थङ्कर प्रकृति के बंध का कारण माना जाता है केवल सम्यक्त्व नहीं। अर्थात् सम्यक्त्व के साथ रहने वाला शुभोपयोग ही वहां तीर्थंकर प्रकृति के बंध का

कारण है क्योंकि अकेला सम्यक्त्व तो आत्मगुण होने के कारण बंध का हेतु हो ही नहीं सकता।

आगे कहेंगे कि चौथे गुणस्थान से पांच गुणस्थानों तक अर्थात् आठवें गुणस्थान तक तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। तीर्थंकर प्रकृति की कारण भूत षोडशकारण भावनाओं में अर्हद्-भक्ति आदि भावनाएं वंद्य-वंदक (पूज्य पूजक) भाव से संबंध रखती हैं किंतु सातवें और आठवें गुणस्थान में वंद्य वंदक भाव नहीं है। तब फिर इन गुणस्थानों में षोडशकारण भावनायें कैसे बनेंगी और इनके विना इनमें तीर्थंकर प्रकृति का बंध कैसे होगा? इसका उत्तर उपर्युक्त पद्य में दिया गया है कि जहां वंद्य वंदक भाव नहीं है वहां शुभोपयोग सहित सम्यक्त्व ही उक्त प्रकृति के बंध का कारण है।

सम्यग्दृष्टि के ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध क्यों होता है?

आत्मदृष्टिर्न येनाप्ता जगच्छ्रेयोनुकामना।
समुदेति कथं तत्र सद्दृष्टिर्बन्धकस्तत: ॥२७॥
येषां दृष्टिर्न सत्यास्ति जगदुद्धरणे कथम्।
ते समर्था भवन्त्यत्र महामोहमलीमसा: ॥२८॥

जिसने संसार के कल्याण की कामना रखने वाली आत्म-दृष्टि अर्थात् सम्यग्दृष्टि प्राप्त नहीं की उसके सम्यक्त्व से उत्पन्न होने वाली तीर्थंकर प्रकृति कैसे उत्पन्न हो सकती है। क्योंकि जिनकी दृष्टि सच्ची नहीं है मोह कीचड़ में फंसे हुए वे संसार के

उद्धार करने में किस तरह समर्थ हो सकते हैं।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध क्यों करता है? इस प्रश्न का उत्तर इन दो पद्यों में दिया गया है। जिसने अपने आपको नहीं देखा, अपना अनुभव नहीं किया, अपने आत्म तत्व को नहीं समझा—उसके हृदय में जगत के कल्याण करने की भावना कैसे हो सकती है। जगत के विशाल आत्मत्व के साथ सहानुभूति उत्पन्न करने के लिये पहले अपने आत्मत्व को देखना आवश्यक है। जिसने अपने को देखा है वही सम्यग्दृष्टि है—उसी के हृदय में जगत के कल्याण की भावना पैदा हो सकती है औरों के हृदय में नहीं। इस लिए सम्यग्दृष्टि ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर सकता है।

किस २ गुणस्थान में तीर्थंकरप्रकृति का बंध होता है—यह बताते हैं:—

> बंधं करोति तुर्यादि-गुणस्थानेषु पंचसु।
> तीर्थंकृत्-प्रकृतेः सम्यग्दृष्टिः प्रस्फुटचेतनः ॥२६॥

सम्यग्दृष्टि जीव तीर्थंकर प्रकृति का बंध चौथे से पांच गुणस्थानों में करता है।

जीव के भावों के उत्कर्षापकर्ष की जो चौदह श्रेणियां अर्थात् गुणस्थान बताये गये हैं, उनमें से इस तीर्थंकर प्रकृति का बंध पांच गुणस्थानों में होता है। चौथे गुणस्थान के पहले तो जीव के सम्यक्त्व नहीं होता, इसलिए वहां तीर्थंकर प्रकृतिका बंध

भी संभव नहीं। चौथे गुणस्थान अविरत सम्यग्दृष्टि में और इसके बाद पांचवें देशविरत, छठे प्रमत्तविरत, सातवें अप्रमत-विरत और आठवें अपूर्वकरण में तीर्थंकरप्रकृति का बंध हो सकता है। अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर अपूर्वकरण के छठे भाग तक सम्यग्दृष्टि के ही इस तीर्थंकर प्रकृति का बंध आगम में बतलाया गया है; आगे नहीं। क्योंकि आठवें गुणस्थान अपूर्व-करण के छठे भाग में तीर्थंकर कर्मप्रकृति की व्युच्छित्ति हो जाती है।

श्लोक में जो 'प्रस्फुटचेतनः' पद पड़ा हुआ है उसका अर्थ है 'ज्ञान चेतना को धारण करने वाला'। सम्यग्दृष्टि ज्ञान चेतना का धारक होता है। चेतना के तीन भेद हैं। कर्मचेतना, कर्म फलचेतना और ज्ञान चेतना। जहां रागद्वेषादिक भावों के द्वारा कर्म करने की ही प्रधानता है ऐसे मनुष्यादि संज्ञी मिथ्या-दृष्टि जीवों के प्रधानतया कर्मचेतना होती है। यद्यपि गौण रूप से इनके कर्मफल चेतना भी होती है। जहां कर्मों के फल भोगने की ही प्रधानता रहती है ऐसे एकेन्द्रियादि असंज्ञी मिथ्या-दृष्टि जीवों के प्रधानता से कर्मफल चेतना ही होती है। यद्यपि गौण रूप से इनके कर्मचेतना भी मानी जा सकती है। अवशिष्ट ज्ञान चेतना केवल सम्यग्दृष्टि जीवों के ही होती है; क्योंकि इनके कर्म करने और कर्मों के फल भोगने में आसक्ति नहीं होती। चौथे गुणस्थान से लेकर सिद्धावस्था तक के सभी आत्माओं के ज्ञान-चेतना होती है क्योंकि इनके अनुभव में अज्ञान नहीं

रहता। सम्यग्दर्शन हो जाने के कारण इनका अनुभव ज्ञानात्मक ही होता है।

सम्यग्दृष्टि की परिभाषा :—

स्याद्वादनाम्ना भुवि विश्रुतेन,
सदञ्जनेनैव तु यस्य दृष्टिः।
सुसंस्कृता सोऽस्ति सुदृष्टिरत्र,
सर्वेऽपरेऽतो न च दृष्टिवन्तः ॥३०॥

जिसकी दृष्टि संसार प्रसिद्ध स्याद्वाद नामक श्रेष्ठ अञ्जन से अच्छी तरह मंजी हुई है वही सम्यग्दृष्टि है। और स्याद्वाद के अञ्जन से जिनकी दृष्टि का अच्छी तरह संस्कार नहीं हुआ वे दृष्टिविहीन अथवा मिथ्यादृष्टि हैं।

संसार के सभी पदार्थों का स्वरूप अनेकान्तात्मक है, क्योंकि एक साथ अनेक परस्पर विरोधी धर्म उनमें पाये जाते हैं। पूर्णदर्शियों ने पदार्थों के भिन्न २ नाना धर्मों, भावों अथवा अवस्थाओं को जान कर उनके सत्य स्वरूप का जो आपेक्षिक वर्णन किया है वही स्याद्वाद या अनेकांतवाद है। जिस तरह 'कमल-कुमार' नामक व्यक्ति को जिस समय चाचा कहा जाता है उसी वह समय मामा, नाना, पिता; पुत्र, भतीजा आदि नामों से भी पुकारा जा सकता है। क्योंकि वह किसी की अपेक्षा से चाचा है तो किसी की अपेक्षा से भतीजा। और ये सम्बन्ध यद्यपि एक दूसरे से विरोधी हैं पर फिर भी एक ही व्यक्ति में पाये जाते हैं।

इसी प्रकार संसारका प्रत्येक पदार्थ चाहे वह सजीव हो या निर्जीव अनेक धर्मात्मक है। पदार्थ को केवल एक रूप से देखना और उसको वैसा ही समझ लेना भूल है। जिस समय हमारी जिस अपेक्षा से पदार्थ को देखने की इच्छा होती है हम उसे उस समय उसी रूप में विवक्षित करते हैं, पर इसका मतलब यह नहीं कि उसके अन्य और कोई रूप हैं ही नहीं। सच तो यह है कि पदार्थ का अन्य रूप उस समय हमारी विवक्षा का विषय नहीं है। इसी लिए 'स्यात्' यह शब्द रखा गया है जिसका मतलब है 'कथंचित्' या किसी अपेक्षा से।

स्याद्वाद के संबंध में 'जैनदर्शन' मासिक पत्र 'स्याद्वादांक' नामक विशेपांक में जो सम्पादकीय स्तंभ में ग्रंथकार ने अपने उपयोगी विचार प्रकट किये हैं उनमें से कुछ पाठकों के लाभार्थ यहां उद्धृत कर देते हैं:—

**स्याद्वाद का स्वरूप**—धर्म अथवा धर्मों के सर्वथैकांत का त्याग कर जो कथंचित् एकांत का विधान किया जाता है वही स्याद्वाद कहलाता है। आचार्य समंतभद्र ने भी+ स्याद्वाद का यही लक्षण बतलाया है। यह लक्षण सकलादेश÷ और विकला-

---

+ स्याद्वादः सर्वथैकांतत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः।

—राजवार्तिक

÷ एकगुणमुखेनाऽशेपवस्तुरूपसंग्रहात् सकलादेशः तत्रादेशात् सप्तभंगी प्रतिपदम्:''''''। —राजवार्तिक

देश* पर बनने वाली प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभङ्गी दोनों में संघटित हो जायगा भगवान् समंतभद्र ने पहले से ही सकलादेश और विकलादेश को ध्यान में रख कर स्याद्वाद का उक्त निर्दोष लक्षण बनाया है। उन्होंने अपने देवागम स्तोत्र में प्रधानतया यद्यपि नय सप्तभङ्गी का ही वर्णन किया है, किंतु जगह जगह वे प्रमाण सप्तभङ्गी का संकेत किये विना भी नहीं रहे हैं। देवागम स्तोत्र के आधार पर ही भट्टाकलंक देव ने अपने ग्रन्थों में प्रमाण और नय सप्तभङ्गी का वर्णन किया है। यह उनकी अपनी कल्पना नहीं है। बहुत से आधुनिक विद्वान् स्याद्वाद का जो यह लक्षण बताते हैं कि विवक्षित एक धर्म को प्रधान कर अन्य सम्पूर्ण अविवक्षित गुणों को गौणता से देखना ही स्याद्वाद है—यह ठीक नहीं है; क्योंकि यह लक्षण अव्यापक है। सकलादेश पर बनने वाली प्रमाण सप्तभंगी में इस लक्षण की संगति ठीक नहीं बैठ सकती। प्रमाण सप्तभंगी में किसी धर्म अथवा गुण को प्रधान नहीं बताया जाता; अपितु धर्मी को मुख्य बताया जाता है। हमें प्रयोजनवश कभी किसी धर्म की विवक्षा होती है और कभी धर्मी की। धर्मी की विवक्षा से प्रमाण सप्तभंगी और धर्म की विवक्षा से नय सप्तभंगी बनती है।

दोनों सप्तभङ्गियों के पृथक् पृथक् उदाहरण भी हो सकते हैं और एक भी। प्रभाचन्द्र, विमलदास आदि विद्वानों ने दोनोंके

---

* निरंशस्यापि गुणभेदांशकल्पना विकलादेशः तत्रापि तथा सप्तभंगी ॥ —राजवार्तिक

एक ही उदाहरण दिये हैं, भट्टाकलङ्क देव ने अपने ग्रन्थों में किसी जगह+ एक उदाहरण देकर दोनों का स्वरूप समझा दिया हैं और किसी जगह÷ भिन्न उदाहरणों से काम लिया है। 'स्यादस्त्येव जीवः' अर्थात् कथंचित् जीव सत्स्वरूप ही है—यह प्रमाण और नय दोनों सप्तभङ्गियों का उदाहरण बन सकता है। जब एक अस्ति व गुण की मुख्यता से जीवरूप पदार्थ का प्रतिपादन करना वक्ता को अभीष्ट होता है तो यही प्रमाण सप्तभङ्गीका उदाहरण बन जाता है और जब केवल अस्तित्वादि धर्म को कहना ही वक्ता को अभिलपित होता है तब यह नय सप्तभङ्गी का उदाहरण हो जाता है। जीव में अनेक गुण हैं। अस्तित्व गुण की प्रधानता से अभेदवृत्ति* अथवा अभेदोपचार से जब निरंश समस्त जीव पदार्थ कहा जाता है तब सकलादेश कहलाता है।

'स्याज्जीव एव' कथंचित् जीव ही है यह प्रमाण वाक्य का और 'स्यादस्त्येव जीवः' किसी अपेक्षा जीव सत्स्वरूप ही है यह नय वाक्य का पृथक् पृथक् उदाहरण भी है। किंतु अकलङ्क देव के इस मत को सप्तभङ्गीतरंगिणी के कर्ता पं० विमलदास ने अपने ग्रन्थों में स्वीकार नहीं किया—ऐसा जान पड़ता है। सारांश यह

---

\+ राजवार्तिक। ÷ लघीयस्त्रय का भाष्य।

* अभेदवृत्ति अथवा अभेदोपचार आदि का विवेचन राजवार्तिक और सप्तभङ्गी तरंगिणी आदि ग्रन्थों से जानना चाहिये।

है कि अधिकांश विद्वानों ने प्रमाण और नय वाक्य के अलग २ उदाहरण देना आवश्यक नहीं समझा।

**स्याद्वाद की महत्ता**—जैन वाङ्मय में स्याद्वाद का स्थान बहुत ऊंचा है। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में हम इस अनेकांतता या स्याद्वाद को जैनागम का 'जीव' अथवा 'वीज' कह सकते हैं। जिस तरह जीव के विना निष्प्राण शरीर किसी काम का नहीं इसी तरह स्याद्वाद के विना परमागम भी बिलकुल निष्फल, निकम्मा और निःसार है। स्याद्वाद जैनदर्शन की विशेपता है, इसी लिये जैनी स्याद्वादी के नाम से व्यवहृत होते हैं। भगवान महावीर ने इस विशेपता का आविष्कार कर संसार में फैली हुई मत-असहिष्णुताको नामावशेष करना चाहा था। पर मनुष्य जातिके दुर्भाग्य से इसमें पूर्ण सफलता न मिल सकी। मेरे कहने का आशय यह नहीं है कि सबसे पहले भगवान महावीर ही इस सिद्धांत के प्रवर्तक हुए। मैं केवल यह कहना चाहता हूं कि सम्प्रदायवाद को नष्ट करने के लिये उन्होंने तत्कालीन जनता को स्याद्वाद सिद्धांत का स्वरूप समझा कर क्लेशों से उन्मुक्त होने का मार्ग वतलाया।

दुनियां में एकांत पक्ष को लेकर अनेक सम्प्रदाय वने हुए हैं वे अपनी मान्यता को सत्य और दूसरों के सिद्धांतों अथवा अभिमतों को असत्य घोपित करते हैं, इसका कारण है उदार दृष्टि का अभाव। विचारों में उदारता का न रहना ही साम्प्रदायिकता है। साम्प्रदायिकता मनुष्य के लिए वड़ा भारी कलङ्क

है। यह कलङ्क मनुष्य को इतना अंधा वना देता है कि वह सत्य को असत्य और असत्य को सत्य सिद्ध करने की चेष्टा करता है। सम्प्रदायवाद में गुण ग्रहण करने की वुद्धि नष्ट हो जाती है। मनुष्य इतना पतित हो जाता है कि उसे दूसरों के गुण ग्रहण करने में सङ्कोच होने लगता है। अपनी वुरी से वुरी वात को अच्छी व्रतला कर उसका समर्थन करना और दूसरों की भली से भली वात का खण्डन करने को तैयार हो जाना मतांध मनुष्यों का काम है। स्याद्वाद ऐसी मतांधता, सम्प्रदायवाद और स्वपक्ष-पात को कभी स्वीकार नहीं करता। सच्चा स्याद्वादी वह है जो गुणों को ग्रहण कर दोषों को छोड़ देने की शिक्षा देता है। गुण ग्रहण की वुद्धि का उत्पन्न हो जाना ही स्याद्वाद का फल है और यही इसकी महत्ता है।

**स्याद्वाद की व्यावहारिक उपयोगिता—** जव तक किसी सिद्धांत का व्यवहार में उपयोग नहीं होता; तव तक उसकी ग्राह्यता स्वीकार नहीं की जा सकती। केवल विचारों और ग्रन्थों में ही रह जाने वाले सिद्धांत से संसार को कोई लाभ नहीं हो सकता। जव सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान-मय विचारों का चारित्र के रूप में उपयोग करते हैं तभी आत्मा को निर्वाण की प्राप्ति होती है। केवल भोजन के विचार ही हमारी क्षुधा शांत नहीं कर देते। त्रितयात्मक मुक्ति मार्ग मानने का यही आशय है कि यथार्थ विचारों को जीवन में उतार कर उनका व्यावहारिक उपयोग करो।

अधिकांश जन समुदाय यह समझे हुए है कि स्याद्वाद केवल शास्त्रों की वस्तु है। किंतु बात ऐसी नहीं है। यदि यह केवल ग्रन्थों की ही चीज़ होती तब तो इसका जगत-कल्याण से क्या सम्बन्ध था। शास्त्रों ने तो सिर्फ स्याद्वाद का स्वरूप और लक्षण बतलाया है। स्याद्वाद की व्याख्या करने वाले महर्षियों की यह आज्ञा है कि मानव-जीवन को सफल और शांतिमय बनाने के लिये जीवन के प्रत्येक विभाग में स्याद्वाद का उपयोग करने की आवश्यकता है। अगर हम दुःखी हैं तो इसका कारण केवल यही हो सकता है कि हम जीवन में स्याद्वाद का उपयोग नहीं करते। वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक और राष्ट्रीय अशांति का कारण केवल 'ही' के आग्रह के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता। इस आग्रह का न होना ही स्याद्वाद कहलाता है। यदि विश्व शांति का कोई एक मात्र कारण हो सकता है तो वह स्याद्वाद ही है। इस समय संसार में जो सर्वत्र अशांति और आकुलता का साम्राज्य नजर आता है इसका कारण यह है कि मनुष्य सिर्फ अपनी ही आंखों से देखना जानता है। यदि मानव समाज स्याद्वाद की विशाल और उदार दृष्टि से देखना सीख जाय तो संसार में अधिकांश दुःखों की कमी हो जाय।

जिसके हृदय में स्वार्थ होता है वह स्याद्वाद को न पहचानेगा। इस लिए स्याद्वादी बनने के लिये स्वार्थ को हटा कर हृदय को पवित्र बनाना चाहिए। जब अपने स्वार्थ को ले कर मनुष्य बात करता है तब वह दूसरों को बिलकुल भूल जाता

है। यह भूल ही कलह का कारण है। स्याद्वाद दृष्टि प्राप्त हो जाने के बाद ऐसी भूल नहीं हो सकती। लाखों स्याद्वादी भी एक जगह बिना किसी प्रकार की असुविधा के शांतिपूर्वक रह सकते हैं किंतु परस्पर लड़ने वाले दो एकांती भी एक जगह शांति से नहीं रह सकते। इसका अर्थ यह हुआ कि शांति के उपासकों को चाहिए कि पहले वे स्याद्वाद की उपासना करें। पारस्परिक वैमनस्य और अनेकता का विचार छोड़ कर निज और पर की उन्नति में लग जाना ही स्याद्वाद की व्यावहारिक उपयोगिता है। थोड़े से मतभेद के कारण हम जो एक दूसरे को वैयक्तिक हानि करने को तैयार हो जाते हैं—यह स्याद्वाद सिद्धांत के उपयोग न करने का ही फल है।"

आगे के श्लोक में बताते हैं कि एकांतवादी तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं कर सकता और मुक्ति मार्ग को नहीं जान सकता:—

स्याद्वादबाह्या भुवि विभ्रमन्ति,
जानन्ति नो मुक्तिपथं कदाचित्।
तत्तीर्थकृत्-कर्म कथं विमूढैः,
प्रबध्यते तैर्बहिरात्मभिस्तत् ॥३१॥

जो स्याद्वाद से बाह्य हैं, एकांतवादी हैं, वे संसार में घूमते रहते हैं और मोक्षमार्ग को कभी नहीं जानते। फिर आत्मज्ञान से रहित वे मूढ़ तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध किस तरह कर सकते हैं?

तीर्थङ्कर प्रकृति का बंध वे ही कर सकते हैं जिन्होंने अपने

जीवन में अनेकांत को उतारा है। अथवा यों कहना चाहिये कि जो पदार्थ के सत्यस्वरूप को जानते हैं। पदार्थ अनेकांतात्मक है। जो एकांतपक्ष का समर्थन करते हैं, और उसे ही मानते हैं वे पदार्थ ज्ञान से अनभिज्ञ हैं। एकांतदृष्टि से कभी पदार्थ का असली स्वरूप प्रकट नहीं होता। पदार्थ द्रव्यत्व की अपेक्षा नित्य है, तो पर्यायदृष्टि से अनित्य। जैसे एक व्यक्ति के पास सोने का कंगन था। उसने उसे तुड़ाकर उसका कर्णफूल बनवा लिया। कर्णफूल बना—यह 'उत्पाद' हुआ। कंगन नष्ट हो गया—यह 'व्यय' हुआ। और सोना ज्यों का त्यों बना रहा—यह 'ध्रौव्य' हुआ। इसी तरह सब पदार्थ उत्पाद व्यय और ध्रौव्य वाले हैं। और जो इस सत्य को मानने से इनकार करते हैं वे पदार्थ की वास्तविक प्रतीति का अपलाप करते हैं।

भिन्न २ दार्शनिकों ने अपने भिन्न २ विचार प्रकट किये हैं। हम यह नहीं कह सकते कि वे सब मूर्ख थे। लेकिन उन्होंने पदार्थ को एक दृष्टि से देखा, सर्वांगतः उसका ज्ञान नहीं किया। इसी लिये प्रायः सब दार्शनिकों के कथन में परस्पर विरुद्ध बातें पाई जाती हैं। बौद्ध 'सर्वं क्षणिकम्' अर्थात् सब क्षणिक हैं—ऐसा मानते हैं। परन्तु इसके विपरीत सांख्य कहते हैं कि पदार्थ सर्वथा नित्य है, कूटस्थ नित्य है। दोनों दार्शनिकों के कथन परस्पर विरुद्ध हैं। इसी तरह से वेदांती (उत्तर मीमांसा के अनुयायी) कहते हैं कि ब्रह्म के अतिरिक्त जीवादि किसी पदार्थ की स्वतंत्र सत्ता नहीं है। पर पूर्वमीमांसा के मानने वाले ऐसा नहीं मानते।

वे ब्रह्म के सिवाय अन्य पदार्थों की सत्ता भी स्वीकार करते हैं। वे ब्रह्मवादी नहीं किंतु कर्मवादी हैं। वे आत्मोत्थान के लिये ब्रह्मज्ञान को आवश्यक नहीं समझते किंतु कर्म (यज्ञादि) की आवश्यकता स्वीकार करते हैं, क्योंकि इसी से स्वर्गादि संपदाओं की प्राप्ति होती है।

इस तरह कई दार्शनिकों के परस्पर विरुद्ध विचार हैं। हम ऊपर कह आये हैं कि उक्त दार्शनिकों ने तत्व की खोज नहीं की। प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों ने आध्यात्मिक तत्वों के सम्बंध में खूब ही अन्वेषण किया है। लेकिन उन्होंने सब अपेक्षाओं से (By all points of view) तत्व को नहीं देखा। और इसी लिये उनका कथन सदोष है। केवल जैनाचार्यों ने ही इस तरफ ध्यान दिया और संसार के कलह को दूर करने का एक अमोघ उपाय स्याद्वाद खोज निकाला। ऊपर दार्शनिकों ने जो भिन्न २ मत माने हैं, स्याद्वाद उन सबको स्वीकार करता है लेकिन 'ही' के साथ नहीं; 'भी' के साथ। जब हम जीव को उसकी पर्याय को ध्यान में रखते हुए (Modal point of view) देखते हैं तो हमें बौद्धों का कहना सत्य प्रतीत होता है। और हम कह सकते हैं कि जीव क्षणिक भी है। किंतु जब द्रव्य दृष्टि से (Substantial point of view) विचारते हैं तो सांख्य या वेदांत मतानुसार जीव नित्य भी प्रतीत होता है। अपेक्षा दृष्टि से वेदांतियों का ब्रह्मवाद या अद्वैतवाद भी सिद्ध हो जाता है और मीमांसकों का कर्मवाद भी सांसारिक विभूतियों की अपेक्षा ठीक

माना जा सकता है। ऐसे ही नैयायिक वैशेषिक आदि सभी मतों द्वारा माना हुआ एकांत अपेक्षा दृष्टि से ठीक कहा जा सकता है।

अतः उक्त कथन से स्पष्ट है कि केवल एकांतवाद चाहे वह ज्ञानाद्वैत, पुरुषाद्वैत, संवेदनाद्वैत, ब्रह्माद्वैत, या भावैकांत, अभावैकांत, उभयैकांत, अवाच्यतैकांत, भेदैकांत, अभेदैकांत, सदेकांत, असदेकांत, नित्य, अनित्य आदि कोई भी एकांत क्यों न हो उससे तत्व व्यवस्था ठीक नहीं बैठती और इसी लिये सत्यके अभाव में मुक्तिपथ ढूंढने से भी नहीं मिल सकता।

स्याद्वाद का समर्थन करते हुए ही कहते हैं :—

सर्वं जगद् यैर्मतिमद्भिरेतत्,
स्याद्वादमुद्राङ्कितमेव बुद्धम्।
त एव सम्यग्मतयो भवन्ति,
क्लेशोदधेः पारगता महान्तः ॥३२॥

जिन विवेकशीलों ने इस संसार को स्याद्वाद मुद्रा से युक्त जान लिया है वे ही श्रेष्ठ बुद्धि वाले हैं और वे ही महान् बन कर संसार के क्लेश रूपी समुद्र के पार स्वयं पहुंच जाते हैं और दूसरों को भी पहुंचा देते हैं।

ऊपर तीसवें और इकतीसवें श्लोक की टीका में जो कुछ लिखा गया है—उससे पाठक अच्छी तरह समझ गये होंगे कि स्याद्वाद क्या है। हमने वहां सप्तभंगी के सम्बंध में कुछ न लिख कर केवल उसका नाम मात्र ही दिया है। यहां उसके सम्बंध में

थोड़ा सा लिख देना उपयुक्त होगा। स्याद्वाद और सप्तभंगी एक दूसरे से बिलकुल भिन्न तत्व नहीं हैं, बल्कि इनमें स्याद्वाद अंश और सप्तभंगी अंशी है। स्याद्वाद और सप्तभंगी दोनों शब्द रूप होने से अनेकांत के वाचक हैं और अनेकांत पदार्थ का स्वरूप होने से वाच्य है।

वस्तु में परस्पर विरोधी दो धर्म पाये जाते हैं और इसी लिये विधि और प्रतिषेध की अपेक्षा से वस्तु और उसके धर्म का प्रतिपादन सात तरह से होता है, और उस सात तरह के समूह को ही सप्तभंगी कहते हैं। वे सात भंग इस प्रकार हैं :—

१– स्यादस्ति—कथंचित् है। २– स्यान्नास्ति—कथंचित् नहीं है। ३– स्यादस्तिनास्ति—कथंचित् है और नहीं है। स्यादवक्तव्य+—कथंचित् अवाच्य है। ५– स्यादस्त्यवक्तव्य–कथंचित् है और अवाच्य है। ६– स्यान्नास्त्यवक्तव्य—कथंचित् नहीं है और अवाच्य है। ७– स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य—कथंचित् है, नहीं है और अवाच्य है।

इन सात प्रकारों या भंगों में पहला 'स्यादस्ति' अर्थात कथंचित् है और दूसरा 'स्यान्नास्ति' यानी कथंचित् नहीं है, यह है।

सुरेंद्र मोहन का भतीजा है और मोहन सुरेंद्र का चाचा। लेकिन न तो सुरेंद्र संसारभर का भतीजा हो सकता है और न

---

+कुछ आचार्यों ने अवक्तव्यको तीसरा और स्यादस्तिनास्ति को चौथा भंग माना है।

मोहन सबका चाचा। इस लिये मोहन अपने भतीजे की अपेक्षा चाचा है और दूसरों की अपेक्षा नहीं है। यह दोनों भंगों का उदाहरण हुआ। इसके बाद तीसरा भंग हुआ 'स्यादस्तिनास्ति' अर्थात् कथंचित् है और नहीं है। एक आदमी कहने लगा कि मोहन चाचा नहीं है और दूसरा कहने लगा कि चाचा है। दोनों में बात बढ़ी। तब मोहन ने कहा कि तुम दोनों का कहना ठीक है। सुरेन्द्र की अपेक्षा से मैं चाचा हूं और दूसरों की अपेक्षा से नहीं हूं। मोहन ने जो उभयामत्क वचन कहा—यह तीसरा भंग हुआ।

वस्तु के दोनों धर्मों को एक साथ नहीं कह सकते। जब एक धर्म कहा जायगा तो दूसरा छूट जायगा। आम खट्टा भी है, मीठा भी है पर दोनों धर्मों को एकसाथ कहा नहीं जा सकता। इस लिए वह अवाच्य या अवक्तव्य है—यह चौथा भंग हुआ। इस चौथे भंग के साथ अस्ति का प्रयोग करने से—यानी-जिस समय अवक्तव्य है उस समय आम मीठा भी है, अतः यह अवक्तव्य और मीठा भी है—पांचवां भंग बनता है। इस अवक्तव्य अवस्था में मिठास का अस्तित्व है इस लिए पांचवां भंग हुआ और नास्तित्व है इस लिए छठा भंग 'स्यान्नास्त्यवक्तव्य' बना। अवक्तव्य के साथ मिठास का अस्तित्व और नास्तित्व दोनों हैं इस लिये सातवां भंग 'स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य' बना।

इसी तरह संसार के प्रत्येक पदार्थ में यह सात भंग हो सकते हैं। यदि यह कहा जाय कि सात ही क्यों, कम या ज्यादा

क्यों नहीं? तो इसका उत्तर यह है कि पदार्थों को जानने की इच्छाओं के सात ही भेद हो सकते हैं। और जानने की इच्छा सात ही तरह की यों है कि संशय के भी सात ही प्रकार हैं। संशय के सात ही भेद इस लिए हैं कि संशयोंके विषयीभूत धर्म भी सात तरह के ही हैं। वे धर्म ये हैं—

१–कथंचि सत्त्व, २–कथंचिदसत्त्व, ३–कथंचित् क्रम से समर्पित सत्त्व असत्त्व उभय रूप, ४–कथंचिद्वक्तव्यत्व, ५–कथंचित् सत्त्व विशिष्ट अवक्तव्यत्व, ६–कथंचित् असत्त्वविशिष्ट–अवक्तव्यत्व, ७–कथंचित् क्रम से समर्पित सत्त्व और असत्त्व एतदुभय विशिष्ट अवक्तव्यत्व।

इस प्रकार सप्तभंगी का स्वरूप संक्षेप में कहा गया है। इस के दो भेद हैं प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी। इनके संबंध में तीसवें श्लोक की टीका में लिखा जा चुका है। यहां दुबारा लिखने की आवश्यकता नहीं।

'तीर्थंकर प्रकृति के बंध में सम्यक्त्व को कारण कैसे बताया गया? क्योंकि वह तो आत्मा का निज स्वभाव है। क्या स्वभाव भी स्वभावी के बंधने में कारण हो सकता है? अगर ऐसा है तब तो 'आत्मा के कभी बंध का अभाव होगा ही नहीं।'' इस शंका का उत्तर देते हुए कहते हैं कि—

सद्दर्शनं बन्धनहेतुरत्र,
कथं समुक्तं, न च वाच्यमेतत्।

सद्दर्शने योऽस्ति शुभानुरागः,
स बन्ध-हेतुर्न च दर्शनं तत् ॥२३॥

तीर्थंकर प्रकृति के बंध में सम्यग्दर्शन कारण है यह कैसे कहा ? इसके लिये कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं। सम्यग्दर्शन होने पर जो शुभानुराग होता है—वह बंध का कारण है दर्शन नहीं।

तीर्थंकर प्रकृति के बंध में सम्यग्दर्शन का रहना अनिवार्य है। लेकिन वह इस प्रकृति के बंध का कारण नहीं हो सकता। क्योंकि सम्यग्दर्शन आत्मा का गुण है वह बंध का कारण कैसे हो सकता है ? बल्कि रागद्वेष ही कर्मों के बंध के कारण होते हैं। तीर्थंकर प्रकृति शुभ पुण्य प्रकृति है इस लिये शुभ राग ही इसके बंध का कारण है। बंध की व्याप्ति या अविनाभाव संबंध रागादि भावों के साथ है। इसके अतिरिक्त प्रकृति बंध और प्रदेशबंध तो मन वचन काय के योगों की क्रिया से आस्रव-पूर्वक माना गया है। और बाकी के दोनों स्थिति और अनुभाग बंध कषायों से होते हैं। इसका यह मतलब हुआ कि बंध, कषाय रूप या योग रूप होता है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये न तो योग रूप हैं और न कषाय रूप। इस लिए ये किसी भी कर्म के कारण नहीं बन सकते। यही आचार्य अमृतचंद्र सूरि ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में कहा है:—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंन्धनं भवति ॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बंन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥

अर्थात्— इस आत्मा के जिस अंश में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है उस अंश से वंध नहीं होता किंतु जिस अंश में रागभाव है उससे ही वंध होता है ।

इस लिये शुभानुराग ही तीर्थंकर प्रकृति के वंध का कारण है, सम्यक्त्व नहीं । इसी को स्पष्ट करते हुये आगे वर्णन करते हैं:—

सद्दर्शने तादृशयोग्यताऽस्मिन्,
जीवे समुत्पत्तिमुपैति सात्र ।
शुभानुरूपा तत एव वन्धः,
न दर्शनं वन्धकरं कदाचित् ॥३४॥
घृतं दहत्येप वचःप्रयोगो,
यथा हि रूढिप्रथितस्तथैव ।
सद्दर्शनं तीर्थंकरत्व—कर्म—
हेतुर्भवत्यत्र न मुख्यवृत्तिः ॥३५॥

सम्यग्दर्शन के होने पर जीव में इस तरह की शुभानुराग रूप योग्यता उत्पन्न हो जाती है और उसी से वंध होता है। सम्यग्दर्शन कभी भी वंध का कारण नहीं है। जिस तरह घी जलाता है, यह कहा जाता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन तीर्थंकर प्रकृति के वंध का कारण है, यह भी उपचार या रूढ़ि से कहा जाता है।

सम्यग्दर्शन हो जाने पर इस जीव में एक विशेष योग्यता उत्पन्न हो जाती है। वह योग्यता आत्मा के शुभोपयोग में एक विलक्षण प्रकार की विशेषता उत्पन्न कर देती है। यह विशेषता ही तीर्थंकर प्रकृति के वंध का कारण है। पर ऐसी विशेषता विना सम्यक्त्व के नहीं होती। इस लिये सम्यक्त्व को ही इस प्रकृति के वंध का कारण कहते हैं। किंतु यह कहना उपचार से है, ठीक वैसे ही जैसे गर्म घी आदि पदार्थ किसी के शरीर पर पड़ जाने से यह कहा जाता है कि घी ने मुझे जला दिया। वस्तुतः घी नहीं, पर घी में रहने वाली अग्नि जलाती है। फिर भी उपचार से दुनियां में यही व्यवहार रूढ़ है। इसी तरह वंध का कारण सम्यक्त्व नहीं; किंतु सम्यक्त्व के साथ रहने वाला शुभोपयोग है। फिर भी उपचार से उसे ही वंध का कारण कह दिया गया है।

सम्यक्त्व वंध का कारण क्यों नहीं—इसका उत्तर :—

सद्दर्शनं ह्यात्मगुणो, गुणस्तु,
न वन्धकः स्वस्य भवेत् कदापि।

गुणः स्वकीयो यदि बन्धहेतु-,

दुरंगतं मुक्तिवचस्तथा स्यात् ॥२६॥

सम्यग्दर्शन आत्मा का गुण है और गुण, गुणी के बंध का कारण कभी नहीं हो सकता। यदि अपना ही गुण अपने बंध का कारण हो जाय तो फिर कभी मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती।

सम्यग्दर्शन आत्मा का स्वभाव है। जब आत्मा का अपने स्वभाव रूप ही परिणमन होता है तो स्वभाव (आत्मगुण) अपने ही बंध का कारण नहीं बन सकता। बंध का कारण तो सदा विजातीय पदार्थ या वैभाविक परिणतियां होती हैं। विजातीय रस्सी ही बैल वगैरह पशुओं को बांधती है। रागद्वेष आत्मा के विभावरूप हैं—विजातीय हैं अतः वे ही बंध के कारण हो सकते हैं। पुण्य बंध में राग और पाप बंध में द्वेष कारण होता है। तीर्थंकर प्रकृति महान पुण्य प्रकृति है और शुभ है इस लिये सम्यग्दर्शन से होने वाले शुभानुरूप राग परिणाम ही इसके बंध के कारण समझने चाहिये।

आगे सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का वर्णन करते हैं :—

अष्टौ समुक्तानि यथा हि देहे,

अंगानि तद्वत् खलु दर्शनं च।

अष्टांग-युक्तं कथितं जिनेशैः

न चाङ्गहीनं खलु पूर्णमिष्टम् ॥२७॥

जिस तरह से मनुष्यके देह में आठ अंग माने जाते हैं, इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के भी आठ अंग हैं। जिनेन्द्र भगवान ने अष्टांग सहित दर्शन को ही पूर्ण सम्यग्दर्शन कहा है, अंगहीन दर्शन को पूर्ण सम्यग्दर्शन नहीं। अर्थात् अंगहीन दर्शन संसार की सन्तति को नाश नहीं कर सकता।

आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि जिस तरह सर्पादि के जहर को उतारने वाले मंत्र में यदि एक भी अक्षर मात्रा वगैरह कम हो तो वह मंत्र विषवेदना को दूर नहीं कर सकता, इसी तरह आठ अंगों में से एक भी अंग यदि न हो तो वह दर्शन पूर्ण सम्यग्दर्शन नहीं कहला सकता और न संसार सागर की संतति को ही नाश कर सकता है। इस लिये अष्टाङ्ग दर्शन ही पूर्ण सम्यग्दर्शन है।

अब सम्यग्दर्शन के आठ अंगों की शरीर के आठ अंगों से तुलना करते हैं :—

निःशंकितांगं हि शिरः समुक्तम्,
निःकांक्षितं हृत् खलु चाहुरार्याः।
तृतीयमंगं किल पृष्ठमुक्तम्,
चतुर्थमंगं हि नितम्बमाहुः ॥३८॥
हस्तद्वयं पञ्चमषष्ठकञ्च—
सप्ताष्टमं पादयुगं तथाहुः।

एभिः समस्तैः परिपूर्णमाहुः,
सद्दर्शनं मुक्तिकरं मुनीन्द्राः ॥३६॥

पहला निःशंकित अंग सम्यग्दर्शन का मस्तक है और दूसरा निःकांक्षित अंग हृदय। तीसरा अंग निर्विचिकित्सिता पीठ और चौथा अमूढ़दृष्टि अंग नितम्ब कहा गया है। उपबृंहण या उपगूहन और स्थितिकरण नामक पांचवें और छठे अंग को क्रम से दाहिना और बांया हाथ समझना चाहिये। वात्सल्य और प्रभावना नामक सातवें और आठवें अंग को क्रम से दाहिना बांया पैर कहा गया है। इन समस्त अंगों से पूर्ण सम्यग्दर्शन को ही आचार्यों ने मुक्तिदायक बताया है।

यद्यपि शरीर के आठों ही अंगों की अपने २ स्थान पर उपयोगिता है, क्योंकि इनमें एक भी न हो तो शरीर की अपूर्णता बड़ी दुःखदायिनी हो जायगी, फिर भी सब अंगों की समान उपयोगिता नहीं मानी जा सकती। शरीर में जो महत्ता मस्तक की है वह पैरों की नहीं हो सकती। पैर कट जाने पर मनुष्य बहुत समय तक जिंदा रह सकता है पर मस्तक कट जाने पर तो शायद दो घण्टे तक भी जिंदा न रह सके। इस तरह विचार करने से मस्तक की महत्ता हमारी समझ में आ जाती है। ऐसे ही हृदय पीठ आदि के संबंध में भी समझना चाहिये। इस दृष्टि से ऊपर शरीर के अंगों का जो क्रम रक्खा गया है वह उन २ अंगों की महत्ता को लक्ष्य करके है। दोनों पैरों की अपेक्षा दोनों हाथ,

दोनों हाथों की अपेक्षा नितंब, नितंब की अपेक्षा पीठ, पीठ की अपेक्षा हृदय और हृदय की अपेक्षा मस्तक उत्कृष्ट है। यही क्रम सम्यग्दर्शन के आठों अंगों में भी लगा लेना चाहिये। उदाहरणार्थ यहां निःशंकित अंग को सम्यग्दर्शन का मस्तक कहा गया है यह बिलकुल ठीक है। क्योंकि जैसे मस्तक विना मनुष्यादि प्राणी जीवित नहीं रह सकते वैसे इस अंग के विना सम्यक्त्व भी जिंदा नहीं रहेगा। पर जिन अंगों को ग्रंथकर्ता ने पादस्थानापन्न रखा है उनके विना भी सम्यग्दर्शन रह सकता है। हां यह अवश्य है कि वह ऐसी हालत में पूर्ण व कार्यक्षम नहीं होगा। आचार्य समंतभद्र ने भी रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इसी आशय को इस श्लोक द्वारा प्रकट किया है।

नाङ्गहीनं मलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसंततिम्।
न हि मंत्रोक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम्॥

जिस तरह अक्षर रहित मंत्र विषवेदना को नहीं हटा सकता उसी तरह अंगहीन दर्शन संसार के चक्कर को नहीं काट सकता।

अब सम्यग्दर्शन के प्रथम अंग निःशंकित का स्वरूप बताते हैं :—

अनेकधर्मात्मकमस्ति सर्वम्,
पदार्थजातं त्विति तर्करूढम्।

न संशयोऽप्यत्र कदापि कार्यः;
मारात्मकोऽनात्मकता स्वरूपः ॥४०॥

संसार का प्रत्येक पदार्थ अनेक धर्म वाला है, यह बात तर्कसिद्ध है। इसमें कभी भी संशय नहीं करना चाहिये। संशय श्रद्धा की हत्या करने वाला है और आत्मा को विपथगामी बनाता है। संशय बुरा नहीं है यदि उसका उद्देश्य तत्व निर्णय करने का हो। पर जहां तत्व-निर्णय का विचार नहीं है वहां तो संशय की कुछ भी उपयोगिता नहीं है।

जब मनुष्य ज्ञान-प्राप्ति का इच्छुक होता है तो उसके जब तक पदार्थ का निर्णय नहीं होता तब तक संशय बना रहना स्वाभाविक है और इसको बुरा भी नहीं कहा जा सकता। पर संशय को जान बूझ कर उत्पन्न करना और किसी भी पदार्थ को निर्णीत न मानना अर्थात् प्रत्येक पदार्थ के संबंध में संशयापन्न बने रहना अच्छा नहीं। मनुष्य को आज्ञाप्रधानी और परीक्षा-प्रधानी दोनों ही होना चाहिए। प्रयोजनभूत तत्व एवं जिनकी परीक्षा हो सके ऐसे पदार्थों की परीक्षा करनी ही चाहिए। लेकिन बाकी तत्वों के संबंध में उसको आज्ञा—प्रधानी बने रहने में ही लाभ है। संशयालु की अपेक्षा श्रद्धालु का आसन सदा ही ऊंचा रहता है और फायदे में भी वही रहता है। अतः तत्व-निर्णय के प्रयोजन के अतिरिक्त संशय रखना आत्मघातक है; क्योंकि वह श्रद्धा को हानि पहुंचाने वाला है। जिनेन्द्र भगवान के द्वारा

कहा हुआ सूक्ष्म तत्व हेतुओं के द्वारा खंडित नहीं हो सकता।+ इस लिए उसे तो आज्ञा सिद्ध मान लेने में ही लाभ है।

निःशङ्कित अंगधारी सम्यग्दृष्टि को सात प्रकार के भय नहीं होते—अब उनका वर्णन करते हैं:—

न भीतयः सप्त भवन्ति नूनम्,
सम्यक्त्वयुक्तस्य निरर्थिका हि।
आभिर्न युक्ता हि नराः कदापि,
तरन्ति दुःखं खलु जन्मजातं ॥४१॥

सम्यग्दृष्टि मनुष्य विना किसी कारण के सात प्रकार के भयों से कभी नहीं डरता। इन भयों की चिंता से युक्त मनुष्य कभी संसार समुद्र के पार नहीं होते—उनके जन्म-मरण के दुःख दूर नहीं होते।

जिसकी दृष्टि विशुद्ध हो गई है, जिसने प्रत्येक वस्तु के

---

+ सूक्ष्मं जिनोदितं तत्वं हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः॥

अर्थात्—जिनेंद्र भगवान का कहा हुआ तत्व सूक्ष्म है हेतुओं द्वारा वह खण्डित नहीं हो सकता। वह सूक्ष्म तत्वचर्चा आज्ञा रूप से सत्य स्वीकार करनी चाहिये क्योंकि वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशक जिनेंद्र अन्यथा (भ्रांत, विपरीत, असत्य) कथन नहीं कर सकते।

मर्म को समझ लिया है वह व्यक्ति किसी भी विषय की बाहरी बातों पर ध्यान नहीं देता और उसके संबंध में निरर्थक अनेक चिंताएं नहीं करता। जिसने संसार को कर्मक्षेत्र समझ लिया है। उस मनुष्य का कर्तव्य है कि वह विघ्न बाधाओं के समक्ष दृढ़ता से डटा रहे; एक वीर की भांति निर्भीकता से उनका सामना करे और शांति के साथ उनपर विजय प्राप्त करके अपने उद्देश्य को सिद्ध करे। सम्यग्दृष्टि मनुष्य भी यही करता है। कितने ही भय के कारण क्यों न उपस्थित हों और हृदय दहला देने वाले कितने ही प्रसंग क्यों न आवें सम्यग्दृष्टि के आत्मा में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता भय के प्रसंग उपस्थित होने पर उनका प्रतीकार करना और उनसे अपने को बचाना कर्तव्य है लेकिन उनको देखकर घबड़ा उठना और अपने आपको भूल जाना मूर्खता है। घबड़ाने से भय दूर नहीं होता। भय का प्रसंग उपस्थित न हो जाय। इसके लिये चिंता करते रहना और त्रस्त हो उठना समीचीन दृष्टि नहीं है। इस लिये सम्यग्दृष्टि मनुष्य बिना कारण भयों की कभी चिंता नहीं करता और भय के प्रसंग उपस्थित होने पर उनसे अपने को बचाने में हिचकिचाता भी नहीं। यही बात यहां कही गई है। जो मनुष्य निरर्थक भय करते हैं उनका संसार के दुःखों से कभी छुटकारा नहीं हो सकता अकारण ही अनेक चितायें उनके साथ लगी रहती हैं और उन्हें कभी शांति नहीं मिलती। यह उनकी दृष्टि के समीचीन न होने का दोष है। उन्होंने अभी किसी वस्तु के रहस्य को नहीं

समझा। इस लिये भय का वास्तविक कारण न होने पर भी उन्हें भय होता रहता है।

अब सात प्रकार के भयों के नाम गिनाते हैं:—

लोकस्य भीतिः परलोकभीतिः,
मृत्योर्विभीतिःखलु वेदनाभीः।
आकस्मिकाऽत्राणभय-द्वयं च,
अगुप्तिभीतिःकिल सप्त चैताः ॥४२॥

१—लोकभय, २—परलोकभय, ३—मरणभय, ४—वेदनाभय, ५—आकस्मिक भय, ६—अरक्षा भय, ७—अगुप्ति भय ये सात प्रकार के भय हैं।

उक्त सात भयों का स्वरूप बताते हुए सर्व प्रथम लोक—भय का स्वरूप लिखते हैं :—

अनिष्टार्थस्य संयोगो वियोगश्चेष्टवस्तुनः।
माभूदित्याकुलं चेतः लोकभीतिर्निगद्यते ॥४३॥

अनिष्ट पदार्थ का समागम और इष्ट पदार्थ न हो—इन विचारों से आकुल रहना लोकभय है।

पुत्र, मित्र, स्त्री, खेत, मकान चांदी, सोना, धन, धान्य, दासी, दास, कपड़े, बर्तन वगैरह परिग्रहों के वियोग से और शत्रु, दुःख, रोग आदि अनिष्ट पदार्थों के संयोग से डरना लोकभीति कहलाती है। संसार में जिनको हम चाहते हैं वे ही

पदार्थ हमारे लिये इष्ट हैं। उनका संबंध न रहना और जिन्हें हम नहीं चाहते, उनकी प्राप्ति होना क्रमशः इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग है। हमारा धन नष्ट हो जायगा, दरिद्रता आवेगी इस तरह के विचारों से मिथ्यादृष्टि सदा व्याकुल रहता है। वह धनादि पर-पदार्थों को अपना समझता है और इसी लिये इनके वियोग से डरता है अथवा इनकी अप्राप्ति को दूर करना चाहता है। वह यह नहीं जानता कि ये तो पर हैं, स्वयं "मैं" नहीं। लेकिन सम्यग्दृष्टि इस तरह व्याकुल नहीं होता। वह समझता है कि ये पदार्थ पर हैं। संसार की विभूतियां अनित्य हैं—विनाशी हैं। ये उत्पन्न होती हैं इस लिये इनका नाश भी अवश्यंभावी है। और तो क्या मेरा शरीर भी मुझ से पृथक् और क्षणभंगुर है। जो मिलता है वह बिछुड़ता भी है। इस संयोग वियोग का डर करना मूर्खता है। इस लिये ज्ञानी आत्मा को निष्कलंक समझता हुआ निःशंक रहता है। यद्यपि गृहस्थ सम्यग्दृष्टि इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट को दूर करने के लिये न्यायानुकूल प्रयत्न करने में कभी नहीं चूकता, पर उसका यह प्रयत्न बड़ी धीरता के साथ होता है। वह इन दोनों के लिये व्याकुल रह कर व्यर्थ अपनी चित्त की शांति को भंग नहीं करता।

परलोकभय का स्वरूप :—

दुर्गतौ दुःखपूर्णायां माभून्मे जननं ननु,
भयंकराणि दुःखानि, तत्रत्यानि कथं सहे ॥४४॥

स्वर्गतो चेद्भवेज्जन्म, भद्रं स्यादिति चेतसः।
विक्षिप्तिर्मोह-जन्या या, पारलौकिकभीर्मना ॥४५॥

"दुःखपूर्ण नरकादि गति में मेरा जन्म न हो, अहा! वहां के भयंकर दुःखों को मैं कैसे सहन कर सकूंगा। यदि स्वर्ग में मेरा जन्म हो तो अच्छा हो।" इस तरह मोह से उत्पन्न होने वाली चित्तविक्षिप्ति को परलोक भय कहते हैं।

मिथ्यादृष्टि जिस तरह इस लोक के भय के कारण त्रस्त रहता है उसी तरह दूसरे जन्म में प्राप्त होने वाले दुःखों का ख्याल करके भी डरता रहता है। लेकिन सम्यग्दृष्टि को परलोक के दुःखों की कल्पना नहीं डरा सकती। वह समझता है कि अनंत-ज्ञान का धारी आत्मा ही मेरा लोक है जिसमें सदा रमण करना मेरा कर्तव्य है। पुण्य से प्राप्त होने वाले स्वर्गादि और पाप से प्राप्त होने वाले नरक आदि लोक मेरे नहीं हैं। मेरा लोक या परलोक तो मेरा आत्मा है; जो नित्य है। स्वर्ग नरकों का सुख दुःख नाशवान और अनित्य है। मैं सदाशिव, अनंत ज्योति-स्वरूप, मुक्ति का स्वामी हूं। इस तरह सम्यग्दृष्टि कभी परलोक-भय से व्याकुल नहीं होता।

मरणभय का स्वरूप :—

मृत्युर्मे न कदापि स्यात्, मृत्योर्दुःखं कथं सहे।
जीवेयं हि सदा लोके, मृत्युभीतिर्हि स्यादियम् ॥४६॥

"मेरा मरण कभी भी न हो, मैं मृत्यु के दुःखों को कैसे

सहन करूंगा, मैं सदा संसार में जीवित रहूं ।" इस प्रकार के विचार होना मरणभय है ।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच इन्द्रियां मन, वचन, काय, ये तीन वल और आयु तथा श्वासोच्छ्वास ये दस प्रकार के प्राण होते हैं । इन प्राणों का नाश होना मरण है । मिथ्यादृष्टि इन प्राणों के वियोग की कल्पना से ही डरता है । उसे सदा यह भय वना रहता है कि मैं कहीं मर न जाऊं । परंतु सम्यग्दृष्टि इसकी चिंता नहीं करता । क्योंकि वह अच्छी तरह जानता है कि इस शरीर के अस्थिपञ्जर का नाश होता है, मेरा नहीं । मेरा आत्मा तो अजर अमर है । उसका प्राण तो चेतना या ज्ञान है । और यह चेतना या ज्ञान तो तीनकाल में भी नष्ट नहीं होने वाला है । इस प्रकार चिंतवन करने वाले को मरणभय कैसे हो सकता है ।

वेदनाभय का स्वरूप :—

**रुग्बाधा वेदना प्रोक्ता, सा हि न स्यात् कदापि मे ।**
**सदा स्यां स्वस्थकायोऽहं, वेदनाभीर्भवेदियम् ॥४७॥**

बीमारियों से होने वाली बाधा को 'वेदना' कहते हैं । मिथ्या-दृष्टि कहता है कि—यह वेदना मेरे कभी न हो, मैं सर्वदा नीरोग रहूं । इस प्रकार की आकुलता वेदनाभय कहलाती है ।

बीमारियों के होने के पहले ही उनके विचार मात्र से मिथ्यादृष्टि डरने लगता है और सोचता है कि—मैं सदा नीरोग

रहूं, ये रोग मेरे न हों, मैं किस तरह रोगों की वेदना को सह सकूंगा - इस तरह आकुल बने रहना अथवा डरते रहना वेदना-भय है। सम्यग्दृष्टि इस तरह कर्मों के उदय से होने वाले रोगों से नहीं डरता। वह जानता रहता है कि—मैं और यह शरीर पृथक् २ हैं। व्याधियां शरीर को होती हैं, मुझे (आत्मा को) नहीं। आत्मा द्रव्य दृष्टि से अमूर्त है। अमूर्त आत्मा के यह पौद्गलिक व्याधियां किस तरह हो सकती हैं। जीव ज्ञानी है और ज्ञान ही उसका शरीर है। इस लिये ज्ञानरूप शरीर वाले मुझे जड़ रूप कर्मजनित व्याधियां कैसे छू सकती हैं। इस तरह के विचारों के रहते हुए वेदनाभय कभी हो ही नहीं सकता।

आकस्मिकभय का स्वरूप—

विद्युत्पातादयो या हि,
आकस्मिक-विपत्तयः।
ताभ्यो भीर्मोहयुक्तानां,
ज्ञेयमाकस्मिकं भयम् ॥४८॥

मिथ्यादृष्टि बिजलीपतन, भूकम्प, आग लग जाना आदि अचानक आने वाले भयों की कल्पना मात्र से ही भयभीत हो जाता है। बिजली की गर्जना सुनकर या किसी जगह विद्युत्पात से होने वाली बर्बादी को जान कर एवं भूकम्प और अग्निकांड की घटनाओं को सुन कर मिथ्यादृष्टि यह विकल्प करने लगता है कि ये सब आपत्तियां उस पर न आ जावें; पर ऐसा खयाल व्यर्थ

है। इस तरह की आकस्मिक विपत्तियों को रोकने के लिए अधिकसे अधिक जो कुछ किया जा सके वह धैर्य के साथ अवश्य करना चाहिए। क्योंकि दुःखों को दूर करने का उपाय तो सम्यग्दृष्टि भी करता है पर प्रतिकार के लिए अग्रसर न होना और यों ही शेख चिल्ली की तरह उनकी कल्पना मात्र से भयभीत रहना मिथ्यादृष्टियों का काम है। सम्यग्दृष्टि कभी इस तरह नहीं घबड़ाता। विपत्तियों के आ जाने पर भी हंसते हंसते उनको झेलता है। वह सोचता है कि ये आपत्तियां मेरा ( आत्मा का ) कुछ नहीं विगाड़ सकतीं। आत्मा तो अनादि, अनंत, अखण्ड और अभेदी है उसको भय कैसा ?

अत्राणभय का स्वरूप—

न रक्षकः कोऽपि ममास्ति लोके,
एकाकिनो मे खलु का मतिः स्यात्।
विभीतिरेषा गदिता मुनीन्द्रै-
रत्राणभीतिर्वितथाङ्गभाजाम् ॥४६॥

दुनियां में मेरा कोई रक्षक नहीं है। मैं अकेला हूं, मेरी क्या हालत होगी ? इस प्रकार के भय से आकुल हो उठना 'अत्राण भय' कहलाता है। आचार्यों ने इस प्रकार के भय को विलकुल निरर्थक वतलाया है।

भाव यह है कि मनुष्य स्वयं अपने आप ही रक्षा करने वाला है। अपने बुरे कार्यों के फल स्वरूप दुःख भोगता है और

अच्छे कार्यों के फल स्वरूप सुख का उपभोग करता है। अशुभ के उदय को रोक कर सुख देने वाला और शुभ उदय को हटाकर दुःख देने वाला और कोई भी नहीं है। वह यदि दुनियां में किसी को अपना रक्षक समझता है तो भूल करता है। किसी दूसरे आदमी के अपने पास न होने पर यह सोचना कि मैं अकेला हूं, न मालूम मेरी कैसी हालत होगी? मुझे कौन बचावेगा? मेरी सहायता करने वाला कोई नहीं—इत्यादि निरर्थक भय करना 'अत्राण भय' कहा है। अथवा यों कहना चाहिए कि शरीर के नाश के साथ साथ यह समझ कर कि मेरा नाश हो जायगा, मेरी रक्षा करने वाला कोई नहीं, मेरी आत्मा की रक्षा कैसे होगी न जाने मेरी क्या हालत होगी—डरते रहना 'अत्राण भय है'। सम्यग्दृष्टि के यह भय नहीं होता। वह जानता है कि मेरा ( आत्मा का ) कभी नाश नहीं हो सकता—मैं तो अजर अमर हूं फिर मेरा क्या नाश?

अगुप्तिभय का स्वरूप :—

प्राणप्रियं मे द्रविणादि द्रव्यम्,
चौरादयश्चेत् किल संहरेयुः।
अगुप्तमेतद्धि तदाऽत्र किं स्यात्
अगुप्तिभीतिर्ननु मस्मीयम् ॥५०॥

रुपया पैसा वगैरह द्रव्य मुझे प्राणों के समान प्रिय है। इसे यदि चोर वगैरह चुरा लेवें तो फिर मेरा यहां कैसा हाल

होगा ? इसके बचाव का कोई उपाय नहीं है—इस तरह चिंता करके भयातुर हो उठना 'अगुप्तिभय' कहलाता है। यह सांतदा भय है।

रुपया पैसा वगैरह मनुष्य के लिए प्राणों के समान प्यारा है। उसे यदि कोई चुरा ले जावे तो जैसे उसके प्राण ही चले गये हों ऐसा उसे अनुभव होता है। यह सब ठीक है कि जितना परिग्रह उसने रखा है उसकी रक्षा करना भी उसका कर्तव्य है। और द्रव्य यदि कोई चुरा ले जावे तो उसकी तलाश करके उसे वापिस प्राप्त करने के लिए चेष्टा करना भी उसके लिए त्याज्य नहीं है। पर चोर आवे, चाहे न आवे रात दिन रुपये पैसे की चिंता करते रहना और उसके चोरी चले जाने पर जो जो कष्ट हो सकते हैं उनका ख्याल करते हुए रात दिन भयभीत रहना मूर्खता है। अपने पास की वस्तु की रक्षा का प्रबंध अवश्य करना चाहिये पर उसके संबंध में अनिष्ट की अनेक संभावनाएं करके अपने परिणामों को आकुल बना लेना उचित नहीं। सम्यग्दृष्टि मनुष्य इसके मर्म को समझ लेता है, इस लिये अपने पास की वस्तुओं की रक्षा का समुचित ध्यान रखते हुए भी वह कभी चोरादि के भय से व्याकुल नहीं होता।

अथवा अगुप्तिभय का दूसरे प्रकार से स्वरूप बताते हैं :-

अगुप्तिः संयमाभावः तस्याशंकाकुलं मनोऽ—
थवाऽगुप्ति-भयं चाहुः भीतितत्वमनीषिणः ॥५१॥

अथवा अगुप्तिभय का यह भी अर्थ हो सकता है कि मेरे आत्मा की गुप्ति (रक्षा) का कारण जो चारित्र है उसका कभी नाश न हो, क्योंकि गुप्ति शब्द का अर्थ 'संयम' अथवा चारित्र है और अगुप्ति का अर्थ है 'संयमाभाव'। तात्पर्य यह है कि संयम के नाश के भय से आकुल बने रहने को आचार्यों ने अगुप्तिभय कहा है।

अगुप्तिभय का उक्त अर्थ हो सकता है। सम्भव है इसी लिए श्री अकलंक देव ने 'अगुप्ति' की जगह 'असंयमभय' कहा है। यही ग्रंथकर्ता कह रहे हैं :—

भट्टाऽकलंकदेवास्तु त्रिगुप्त्यागुप्तिसाध्वसम्।
असंयमभयं ह्यत्र प्रवदन्ति महाधियः ॥५२॥

महाबुद्धिमान श्री भट्टाकलंक स्वामी ने तो अगुप्तिभय के स्थान में असंयमभय का नामोल्लेख किया है। गुप्ति का अर्थ होता है आत्मा की रक्षा करना। संयम से भी आत्मा की रक्षा होती है। इस अपेक्षा से असंयमभय और अगुप्तिभय का एक अर्थ भी हो सकता है। इसी अर्थ को आगे के पद्य में प्रकट किया जाता है :—

अस्यात्मनः संयमतो हि गुप्तिः,
असंयमात्पातमुपैति चात्मा।
चेत्संयमो मे लभते विनाशं,
पातो मम स्यादिति भीतिरेषा ॥५३॥

इस आत्मा की रक्षा संयम से ही होती है। असंयम से आत्मा का पतन हो जाता है। अगर मेरे संयम का नाश हो गया तो निश्चित ही मेरा पतन हो जायगा। इस प्रकार के भय को 'असंयम भीति' कहते हैं। यह विचार अच्छा है किंतु इसके विषय में आकुलता न होनी चाहिए। संयम की रक्षा करना मनुष्य का कर्तव्य है। पर मेरा संयम नष्ट हो जायगा तो मैं क्या करूंगा, संयम विनाश का फल मेरे लिये कितना भयंकर होगा— आदि विकल्प विलकुल निरर्थक हैं। केवल इन विकल्पों से ही नष्ट होता हुआ संयम बच नहीं सकता। हां उसके लिए प्रयत्न अवश्य करना चाहिये।

आगे उक्त सात प्रकार के भय सम्यग्दृष्टि जीव के नहीं होते—इस बात को समझाते हैं:—

**सप्तभीतिविनिर्मुक्तिः नित्यं स्यात् सुदृशात्मनः।**
**आत्मतत्वप्रतिष्ठायां, भीतीनां संभवः क्व नु ॥५४॥**

इस तरह सम्यग्दृष्टि जीवों के सदा ही इन सात प्रकार के भयों का अभाव रहता है। ठीक ही है जब आत्मतत्व अच्छी तरह पहचान लिया जाय, तब भय कैसे रह सकते हैं।

यहां यह शंका उत्पन्न होती है कि अविरतसम्यग्दृष्टि जीव के मोहनीय कर्म की भय नामक प्रकृति का उदय है। फिर सम्यग्दृष्टि निर्भय कैसे हुआ? इसका संक्षिप्त उत्तर यह है कि सम्यग्दृष्टि के यद्यपि भय प्रकृति का उदय अवश्य है पर भेद-

विज्ञान उत्पन्न हो जाने से यह प्रकृति निर्बल हो जाती है। इस लिए मिथ्यादृष्टि के आत्मा में जितना और जैसा असर होता है वैसा सम्यग्दृष्टि के आत्मा में नहीं होता। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के भय में इतना ही फर्क है कि मिथ्यादृष्टि व्यर्थ, अनावश्यक और काल्पनिक भयों के आधीन होकर सदा व्याकुल रहता है; जबकि सम्यग्दृष्टि ऐसे भयों को कभी पास नहीं फटकने देता। वह आपत्तियों को वाञ्छनीय तो नहीं समझता पर उन से घबड़ाता भी नहीं; वल्कि उनका शत्रु की तरह स्वागत करता है।

मिथ्यादृष्टि भय के कारण दुःख ही पाता है—यही ग्रन्थकार कहते हैं:—

साध्वसोपद्रुतोमिथ्या-दृष्टिस्त्व प्रतिक्षणम्।
विक्षिप्तवद्ध्यनन्तानां क्लेशानां भाजनं भवेत् ॥५५॥

मिथ्यादृष्टि प्रतिक्षण भययुक्त रहता है और पागल की तरह अनंत क्लेशों का आधार वनता है। मैं मर न जाऊं, मेरी सम्पत्ति नष्ट न हो जाय, मैं अमुक काम करूंगा तो दुनियां में मेरी वदनामी हो जायगी, संसार में मेरा कोई सहारा नहीं है, आदि भय मिथ्यादृष्टि को हमेशा सताते रहते हैं।

इसी बात को फिर समझाते हैं:—

शोकानां च भयानां च, कल्पयन्तो गमागमौ।
लभंते नैव विश्रामं, मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः ॥५६॥

मिथ्यादृष्टि जीव शोक और भय के आने जाने की कल्पना करते हुए कभी विश्राम प्राप्त नहीं करते। उनके सदा आकुलता बनी ही रहती है। क्योंकि उनका अंतःकरण मिथ्यात्व की वासना से दूषित रहता है। अमुक आपत्ति आगई तो क्या होगा? यह कष्ट दूर हो जाने पर मैं किसी की परवाह न करूंगा। आदि विचार मिथ्यादृष्टि को कभी चैन नहीं लेने देते।

सम्यग्दृष्टि ही भय रहित होनेसे सुखी है, यह बताते हैं :—

सद्दृष्टेस्तु विना भीतिं यत्सुखं शान्तचेतसः।
मिथ्यादृष्टेस्तु तत्सौख्यं न कदापि भवेदिह ॥५७॥

सम्यग्दृष्टि का सुख आत्मोत्थ है। वहां भयों का विकार नहीं है। भय की कल्पनामात्र ही सारे सुख को किरकिरा कर देती है। इस लिये सम्यग्दृष्टि शांतचित्त होता हुआ विना भय के सुखानुभव करता है। अतः जैसा सुख वह प्राप्त करता है मिथ्यादृष्टि कभी वैसा सुख प्राप्त नहीं कर सकता। जिसे सांसारिक किसी भी पदार्थ की सुविधा नहीं है ऐसा सम्यग्दृष्टि, मणिमुक्ता आदि अनंत सम्पत्ति के स्वामी मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा अधिक सुखी है।

सम्यग्दृष्टि की प्रशंसा :—

सद्दृष्टिः नारको श्रेयान् मिथ्यादृष्टेः सुरात्खलु।
पूर्वो ह्यात्मस्थतां-प्राप्तः परस्तु जडतां गतः ॥५८॥

जिसने अपने को समझ लिया है वह कहीं भी रहे अच्छा है। पर अनात्मज्ञ के लिये अच्छा स्थान भी सुख का कारण नहीं हो सकता। अतः सम्यग्दृष्टि यदि नारकी भी है तो मिथ्यादृष्टि देव से वह अच्छा है। क्योंकि वह आत्मस्थ है अर्थात् स्त्री पुत्रादि एवं धनधान्यादि वाह्य पदार्थों में आपा नहीं रखता। पर मिथ्यादृष्टि तो अपने को भूल कर इन्हीं जड़ पदार्थों के पीछे २ दौड़ता फिरता है।

निःशंकित अंग का वर्णन समाप्त करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि—

सप्तभीति–विनिर्मुक्तिः सन्देहाभाव एव च।
अनेकांतात्मके तत्वे निःशङ्कागं हि कथ्यते ॥५६॥

इस तरह सात प्रकार के भयों का न रहना और अनेक धर्मात्मक पदार्थ में संदेह का न होना ही निःशङ्क अंग कहलाता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन के प्रथम अंग निःशंकित का वर्णन हुआ।

अब निःकांक्षित नामक द्वितीय अंग का स्वरूप वर्णन करते हैं :—

इहामुत्रापि सद्दृष्टिर्वैभवं नैव वाञ्छति।
यतः तत्कर्मतंत्रं हि सान्तं दुःखविमिश्रितम्।
पापबीजश्च नास्थात्राऽ नाकांक्षणमिष्यते ॥६०॥
(षट्पदी)

सम्यग्दृष्टि जीव इस लोक तथा परलोक में प्राप्त होने वाली विभूतियों—संपदाओं की इच्छा नहीं करता। क्योंकि वे सब सुख और संपदाएं कर्मों से प्राप्त होने वाली, सांत, दुःखों से भरी हुई और पाप का कारण हैं। अतः इनमें आस्था न रखना 'निःकांक्षित' कहलाता है।

पुण्य के फलों में वाञ्छा रखना या जो कर्म किये जाते हैं उनमें यह विचार रखना कि इनसे परलोक में सुख मिलेगा, धन मिलेगा, स्त्री मिलेगी, पुत्र मिलेगा—'कांक्षा' कहलाती है। सम्यग्दृष्टि जीव संसार के इन वैभवों की कभी वाञ्छा नहीं करता। न वह इस भव में संपदा की लालसा रखता है और न परभव में। क्योंकि सांसारिक वैभव की बुराई का उसने अच्छी तरह अनुभव कर लिया है। वह कर्म करता है लेकिन किसी तरह की इच्छा को लेकर नहीं। वह राग और द्वेष रूप दोनों क्रियाओं को बराबर समझता है। शुभ और अशुभ कर्म की भावना उसके हृदय में नहीं उठती। कर्म चाहे शुभ और शुभ फलदायक ही क्यों न हों—उन्हें वह अनिष्ट ही मानता है। क्योंकि शुभ कर्म भी कर्म बंध के ही कारण हैं। बिना इच्छा के जब सम्यग्दृष्टि क्रिया करता है तो वह क्रिया उसके लिए कर्मबंध का कारण नहीं अपितु निर्जरा में ही सहायक होती है। क्षीण-कषाय नामक बारहवें गुणस्थान के पहले बंध का कारण संभव है, इस लिये यदि कोई यह कहे कि—केवल वीतरागी भगवान को छोड़ कर बाकी सब जीवों के सब क्रियायें बंध रूप ही होती हैं और बारहवें

गुणस्थान के पहले औदयिकी क्रिया मानी गई है—वह कर्मबंध करने वाली है—तो उसका कहना ठीक नहीं। क्योंकि कोई भी कर्म जब इच्छा पूर्वक किया जाता है तो सब बातें होती हैं पर जिसकी क्रिया में इच्छा नहीं—शुभ और अशुभ की भावना नहीं वहां ऐसा नहीं होता। क्रिया सब औदयिकी अर्थात् कर्मों के उदय से होने वाली हैं पर सम्यग्दृष्टि इस क्रिया को करता हुआ भी निःकांक्षित है क्योंकि वह किसी में भी लालसा नहीं रखता।

इसी बात को और स्पष्ट लिखते हैं:—

चतुर्भिरेभिर्दोषैर्हि समाक्रान्तं कथं भवेत्।
सुखं सांसारिकं ग्राह्यं सम्यग्दृष्टिमहात्मना ॥६१॥

संसार के सभी सुख ऊपर के श्लोक में बताये गये कर्म-तंत्र, सांत, दुःखमिश्रित और पाप के बीज नामक चार दोषों से युक्त हैं। इस लिये सम्यग्दृष्टि इन सांसारिक सुखों को किस तरह ग्रहण करने योग्य मान सकता है।

संसार में जितने भी सुख हैं वे सब कर्माधीन हैं। जब तक शुभ कर्म का उदय है तब तक ही सुख है इस लिए वे कर्म-तंत्र हैं और सांत अर्थात अंत सहित हैं। एक न एक दिन उन का अंत होना निश्चित है। सुखों के बीच बीच में दुःखों का मेल भी बना रहता है क्योंकि संसार में ऐसा कोई सुख नहीं हो सकता जो दुःखों से मिला हुआ न हो। अतः सुख दुःख-मिश्रित हैं। चौथी बुराई-पाप का बीज है अर्थात् सुख का उपभोग

पाप को उत्पन्न करने वाला है। यह चौथा दोष सब से बुरा है। क्योंकि संसार का सुख जब पाप का बीज होता है तो आत्मा का पतन अवश्यंभावी है। इस लिए सम्यग्दृष्टि ऐसे दोषपूर्ण वैभव अथवा सुख को हेय समझता है। यह निःकांक्षित अंग कहलाता है।

निःकांक्षित अंग का धारी एकांतवाद से दूषित किसी भी पदार्थ को ग्रहण नहीं करता। अब यही कहते हैं:—

न चायमेकान्तविवाददुष्टम्,
कदापि शास्त्रं हि समीहतेद्धा।
एकान्तवादेन तु वस्तुतत्त्वं,
प्ररूप्यते नैव यथार्थतोऽत्र ॥६२॥

निःकांक्षित अंग का धारण करने वाला व्यक्ति कभी भी एकांतवाद से दूषित पदार्थ को ग्रहण करने की इच्छा नहीं रखता। क्योंकि एकांतवाद से वस्तुतत्व का यथार्थ प्रतिपादन कभी नहीं होता। वस्तु अनेक धर्मात्मक है इस लिए एकांत पक्ष को ही मान कर बैठ जाना अच्छा नहीं इस संबंध में पहले प्रकाश डाला जा चुका है अतः यहां विशद वर्णन नहीं किया जाता।

अब निर्विचिकित्सा अंग का वर्णन करते हैं:—

शीतोष्णक्षुत्तृट्-प्रमुखेषु नैव,
भावेषु कार्या विचिकित्सता च।

पुरीषमूत्रादि-पदार्थ-जाते,

पदार्थधर्मज्ञसुदृष्टिवद्भिः ॥६३॥

शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषा आदि में कभी ग्लानि नहीं करना चाहिये। पदार्थ के धर्म को जानने वाले सम्यग्दृष्टि जीव टट्टी पेशाब आदि शरीर के विकारों से ग्लानि नहीं करते। इनसे ग्लानि न करना ही निर्विचिकित्सा अंग कहलाता है।

निर्विचिकित्सा अंग का लक्षण है 'ग्लानि न करना'। किनमें? टट्टी पेशाब आदि शरीर के विकारों में और बुढ़ापा बीमारी आदि अवस्थाओं में क्योंकि यह सब कर्मकृत हैं। पूर्व में जैसे कर्म किये उनके वैसे ही फल होते हैं। उन कर्म फलों में किसी तरह का द्वेष या ग्लानि करना पाप बंध का कारण है अतः सम्यग्दृष्टि इनसे ग्लानि नहीं करता।

इसी बात को आगे समझाते हैं :—

स्वभावतोऽपूतमिदं शरीरम्,

रत्नत्रयात्पावनतां समेति।

ततो न तन्वन्तु कदाप्यवज्ञाम्,

सुदृष्टियुक्तेषु पवित्रितेषु ॥६४॥

स्वभाव से तो शरीर अपवित्र है; परन्तु सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र-रूप रत्नत्रय से पवित्र होता है। इस लिये सम्यग्दर्शन-युक्त पवित्र जीवों की कभी भी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये।

वास्तव में तो शरीर अपवित्र ही है रुधिर मांस हड्डियां वगैरह अपवित्र पदार्थों का एक पिंड है। शरीर कर्म से प्राप्त होता है और कर्म स्वयं भी मैलरूप है। केवल शुद्धात्मा ही ऐसा है जो पवित्र कहा जा सकता है। अशुद्ध आत्मा रत्नत्रय से पवित्र बनता है और इसी के साथ २ यह कह दिया जाता है कि शरीर रत्नत्रय से पवित्र होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव यह अनुभव कर लेता है कि क्षुधादि वेदनाएं कर्म-कृत हैं आत्मा से उनका कोई संबंध नहीं। तीव्र असाता वेदनीय के उदय से अमुक जीव निंद्य-स्थान बन रहा है उसके लिये ग्लानि करना कर्म बंध का कारण है। सम्यग्दृष्टि को कभी ऐसे जीवों के लिये घृणाबुद्धि उत्पन्न नहीं होती। न वह कभी यह सोचता है कि मैं धनवान हूं, बड़ा, गुणशील हूं और अमुक गरीब है, दीन है—वह मेरी बराबरी नहीं कर सकता। सच तो यह है कि निर्विचिकित्सा नामक अंग का धारी कभी किसी तरह का गर्व नहीं करता और न किसी को छोटा समझता है। वह जानता है कि ये सब बातें कर्मकृत हैं, इनसे मेरा लेना देना कुछ नहीं। किसी से भी ग्लानि करना वह पसन्द नहीं करता है। वास्तव में उसके इस तरह गर्व और ग्लानि के परिणाम ही नहीं होते।

अब आगे यह बताते हैं कि सम्यग्दृष्टि एवं क्षुधादि विकारों में ग्लानि करना पाप है।

रत्नत्रयपवित्राङ्गं व्रतिनं वीक्ष्य ये जडाः।
घृणां कुर्वन्ति तेषां वै दृष्टिमोहो विबध्यते ।।६५।।
पुरीषादिपदार्थेषु पूर्वोक्तेषु च कर्मसु।
वृत्तमोहस्य बंधः स्यात् कुर्वतां विचिकित्सिताम् ।।६६

जो मूर्ख रत्नत्रय से पवित्र अंग वाले व्रती को देख कर उससे घृणा करते हैं उनके दर्शन मोहनीय कर्म का वंध होता है। इसी तरह टट्टी पेशाव आदि पदार्थों एवं पूर्वोक्त क्षुधा तृषा आदि भावों में जो लोग ग्लानि करते हैं उनके चारित्र मोहनीय कर्म का वंध होता है।

भूख प्यास आदि सव शरीर की कर्मकृत अवस्थाएं हैं। टट्टी पेशाव वगैरह भी शरीर के ही मैल हैं। संसार में इनसे किसी का भी छुटकारा नहीं है। यह तो शरीर के धर्म हैं। शरीर तो स्वयं मैल रूप है। इसमें अगर कोई ग्रहण करने योग्य चीज है। तो वह केवल आत्मा की पवित्रता है और वह पवित्रता रत्नत्रय से प्राप्त होती है। अतः वही पवित्र है जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से पवित्र है। शरीर की अवांछनीय अवस्थाओं में घृणा करने वाला मनुष्य उस शरीर में रहने वाले रत्नत्रय-पवित्र आत्मा पर भी घृणा करने लगेगा जो कि वहुत बुरा है। मनुष्य को गुण का सन्मान करना चाहिये और शरीर पर ध्यान नहीं देना चाहिये। शरीर चाहे कैसा भी क्यों न हो अगर उसमें रहने वाला आत्मा काम, क्रोध, अभिमान,

माया, लोभ, ईर्ष्या आदि से दूपित नहीं है तो अवश्य पूजनीय है। वहुत से मनुष्य शरीर से सुन्दर होने पर भी दुराचारी होते हैं। और वहुत से वदसूरत महात्मा देखे गये हैं। किसी भूखे प्यासे और दुखी दरिद्र रोगी आदि को देख कर घृणा करने वाला मनुष्य अहंकार का पुतला हो जाता है। यह हृदय की सहानुभूति नष्ट हो जाने का फल है। जिन मनुष्यों में आत्मत्व नहीं होता वे ही दूसरे को देख कर घृणा करते हैं। सम्यग्दृष्टि साधारण से साधारण मनुष्य पर भी घृणा नहीं करता, वल्कि वह तो आपद्ग्रस्त मनुष्यों को देख कर उन पर दया करता है और जैसे वने वैसे उनके दुःख दूर करने का प्रयत्न करता है। रत्नत्रय-पवित्र महात्माओं का तो वह दास हो जाता है फिर चाहे वे कैसी भी अवांछनीय अवस्था-प्राप्त क्यों न हों। किसी भी पदार्थ पर घृणा करना चारित्र-मोहनीय कर्म के वंध का कारण है और श्रद्धा ज्ञान एवं आचरण से पवित्र महात्माओं पर घृणा करना दर्शन मोहनीय कर्म के वंध का कारण है जो सव कर्मों से भयंकर है।

अव अमूढदृष्टि नामक अंग का वर्णन करते हैं :—

एकान्तदूपिते वादे, लोकरूढौ कुलिंगिनि।
कुदेवेऽमूढदृष्टित्वं कर्तव्यं हितमिप्सुना ॥६७॥

अपने हित की चाहना करने वालों को एकांत-दूपितवाद में, लोकमूढ़ता में, कुगुरुओं और कुदेवों में अमूढ़दृष्टिपना रखना चाहिये।

अमूढ़दृष्टि का अर्थ है—'विचारों का मूढ़ता-पूर्ण न होना' वस्तु के अयथार्थ स्वभाव को यथार्थ समझना ही 'मूढ़ता' है और वस्तु के यथार्थ स्वभाव को ही यथार्थ समझना 'अमूढ़दृष्टित्व' है। वस्तु का स्वभाव अनेक धर्मात्मक है अतः एकांतवाद में कभी विश्वास और श्रद्धान नहीं करना चाहिये। इसी तरह मनुष्य को लोकमूढ़, गुरुमूढ़ और देवमूढ़ भी न होना चाहिये।

संसार में अनेक मिथ्या विचारों के कारण अनेक प्रकार की रूढ़ियां प्रचलित हैं और मिथ्यादृष्टि जीव उन्हें हितकर मान कर करते हैं। आचार्य इस बात के विरुद्ध हैं कि कोई भी काम देखा देखी किया जाय। पर्वत से गिरने से मुक्ति मिल जायगी, नदी में स्नान करने से जन्म जन्मांतर के पाप धुल जांयगे, मृत-पति के साथ स्त्री चिता में जल जावे तो उसे स्वर्ग मिल जावेगा, तर्पण करने से मृत पुरखे संतुष्ट हो जांयगे आदि अनेक प्रकार की मूर्खताओं को मानना 'लोकमूढ़ता' है। वास्तव में इस तरह मानना अपने आप को ठगना है और यह तीव्र कर्म बंध का कारण है। किसी भी लोकरूढ़ि का विना विचारे अनुसरण करना विवेक की हत्या करना है। यह सोचने की बात है कि स्नान से आत्मा की पवित्रता का क्या संबंध है। स्नान बाह्य शारीरिक-शुद्धि का कारण अवश्य है, पर वह आत्मा को कर्मफल से नहीं छुड़ा सकता।

जैन शास्त्रों में भी आठ प्रकार की शुद्धि मानी गई है।

१—काल शुद्धि, २—अग्नि शुद्धि, ३—भस्म शुद्धि, ४—मृत्ति-

का शुद्धि, ५–जल शुद्धि, ६–पवन शुद्धि, ७–ज्ञान शुद्धि, और ८–गोमय शुद्धि। पर ये सब लौकिक शुद्धियां हैं। इन से आत्मिक शुद्धि का कोई संबंध नहीं स्वास्थ्य उत्तम रहे, रोग के कीटाणुओं का असर न हो सके और शरीर तथा काम में आने वाले वस्त्र वर्तन आदि पदार्थ साफ रहें इसी लिये उक्त आठ शुद्धियां बताई गई हैं। आत्मा की शुद्धि तो रागद्वेष मोहादि भावों को नष्ट करने से होती है।

गुरुमूढ़ता का अर्थ है—पाखंडियों की पूजा करना। संसार में अनेक पाखण्डी हैं। वे अपने को गुरु बता कर संसार से अपनी पूजा करवाना चाहते हैं। वस्तु के यथार्थ ज्ञान से शून्य और वशीकरण, आकर्षण, सम्मोहन, मारण आदि निंद्य कार्यों को करने में चतुर वे मंत्र, यंत्र, तंत्रों द्वारा दुनियां को ठगने वाले हैं और अन्य प्रकार के आडम्बरों द्वारा ही संसार की दृष्टि में अपने आपको ऊंचा दिखाना चाहते हैं। उन्हें गुरु मानकर पूजना 'गुरुमूढ़ता' है। सच्चा गुरु वही है जो सम्यक्त्वी, निस्पृही, तपस्वी है। जो भोगों में लिप्त है, इंद्रियों के विषयों के आधीन है, परिग्रही है तथा माया मिथ्यात्व और निदान नामक शल्य जिससे दूर नहीं हुई—ऐसा गुरु सद्गुरु नहीं हो सकता। उसको गुरु मानना जबर्दस्त आत्म पतन का कारण है।

देवमूढ़ता का अर्थ है–देव के संबंध में मूढ़ अर्थात् अविवेकी बने रहना। देव अथवा अदेव की परीक्षा न करके लोकरूढ़ि का अनुसरण कर चाहे जिसे देव मान लेना ही देव–

मूढ़ता है। देव उसे कहते हैं जो पूर्ण आदर्श को प्राप्त हो गया हो। कपाय और वासनाओं पर अंतिम विजय ही आ मा का पूर्ण आदर्श है। ऐसे देव को छोड़ कर सब अदेव अथवा कुदेव हैं। क्योंकि वे विषय वासनाओं और कषायों के द्वारा आक्रांत हैं। उनकी उपासना पूजा आदि से आत्मा ऊंचा न उठ कर नीचे ही गिरेगा, क्योंकि आत्मा के उठने का अर्थ है बुराइयों को जीतना। जिसने स्वयं अपनी ही बुराइयों पर विजय प्राप्त नहीं की वह दूसरों की बुराइयों को क्या दूर करेगा। देवोपासना का वास्तविक उद्देश्य आत्मा को पवित्र बनाना है। इस लिये अन्य किसी भी प्रयोजन के लिये चाहे देव की उपासना की जाय चाहे कुदेवकी; देवमूढ़ता ही है सांसारिक वासनाओं को लेकर कर्म-विजयी सच्चेदेव के पास भी यदि कोई जावेगा तो वह वहां से कोई अच्छी वस्तु लेकर नहीं लौटेगा। वह सदा टोटे में ही रहेगा। अतः आत्मोत्त्थान के अभिलापियों का कर्तव्य है कि देवमूढ़ता को त्याग कर देव व प्राप्त करने के लिए ही देव को पूजें।

मूढ़ता के और भी भेद हो सकते हैं जैसे शास्त्रमूढ़ता, धर्म-मूढ़ता आदि।

विवेकी मनुष्य मढ़ताओं का अनुसरण नहीं करता—यही इस पद्य में बताते हैं :—

विवेकदीपेन महीयसा ये,
पश्यन्ति सर्वं न कदापि तेषाम्।

विमूढ़ता सा हि निदानभूता,
सर्वापदानर्थपरम्पराणाम् ॥६८॥

जो ज्ञानी विवेकदीपक से सब पदार्थों को देखते हैं उनके तमाम आपत्तियों एवं अनर्थ परम्पराओं की जड़रूप मूढ़ता नहीं होती।

रूढ़ियों के गुलाम वे होते हैं जो अपने विवेक से काम नहीं लेते। जो विवेक रूपी प्रदीप से देख कर ही किसी भी काम में प्रवृत्ति करते हैं वे कभी मूढ़ताओं में नहीं फंसते। जिनका पथप्रदर्शक विवेक का प्रकाश होता है वे अपने आप का भी उद्धार करते हैं और संसार के लोगों की भी मूढ़ता अथवा रूढ़ियों के भयंकर आक्रमण से रक्षा करते हैं। मूढ़ता संसार में सारी आपत्तियों और अनर्थों की मूल है। दुनियां तो यों ही दुःख रूप है। यह मनुष्य कितना अज्ञानी है कि रूढ़ियों के वश होकर अपने ऊपर और भी बहुत सी आपदाओं को लाद लेता है। देव मूढ़ता, गुरु मूढ़ता अथवा लोक रूढ़ि आदि के कारण ही यह मनुष्य दुःखों के कार्यकारण भाव का ज्ञान नहीं करके अन्य कारणों से उन्हें दूर करने का स्वप्न देखता है।

रोग हो जाने पर रोग के निदान और चिकित्सा की तरफ ध्यान न देकर उसे दूर करने के लिये संसार के कल्पित देवी-देवताओं के पास भटकता फिरेगा। इसका दुष्परिणाम यह होगा कि बेचारा रोगी ( और अगर वही रोगी है तो वह स्वयं ) अकाल में ही काल का ग्रास हो जायगा।

इसी तरह धन की अभिलाषा होने पर उसकी प्राप्ति के अन्य साधनों से विमुख हो कर मंत्र, यंत्र, तंत्र और देवी देवताओं आदि के चक्कर में पड़ कर अपने समय और शक्ति का दुरुपयोग करेगा। अमुक ग्रह और अमुक देवता की पूजा तथा अमुक मंत्र से अवश्य धन की प्राप्ति होगी, पुत्र मिलेगा, रोग नष्ट हो जायगा, प्राप्ति होगी आदि बातों पर विश्वास करना पहले दर्जे की मूर्खता है।

यह देखते हैं कि शनैश्चर आदि ग्रहों की पूजा करने वाले और दुनियां के भोले लोगों को उनकी पूजा का उपदेश देने वाले, मंत्रादि से दूसरों को सिद्धि बतलाने वाले दरिद्र और दुखी बने रहते हैं। और इन पाखण्डों को नहीं मानने वाले सुखी और धनवान पाए जाते हैं। अतः ऐसी बातों पर कभी विश्वास न करके जिसकी प्राप्ति का तर्कसिद्धि जो साधन है उसी का अनुसरण करना चाहिये।

अब उपबृंहण या उपगूहन अंग का वर्णन करते हैं:—

एधितव्यो ह्यात्मधर्मो सदा पावनभावनात्।
उपबृंहणमेतद्धि पञ्चमांङ्गं प्रकथ्यते ॥६९॥

अशक्तबालाश्रयवाच्यतानां,
धर्मस्य ये धर्महितैषिणोऽत्र।
प्रमार्जनं यत्खलु कल्पयन्ति,
तत्पञ्चमांङ्गं हि वदन्ति केचित् ॥७०॥

है और शरीर की अपेक्षा भी। दोनों ही निर्बलताएं मनुष्य को गिरा देती हैं। इसी तरह भोलापन अर्थात् अज्ञान भी मनुष्य को कर्तव्यच्युत कर देता है। मनुष्य पतन-शील है। गिरना उसके लिये स्वाभाविक है। इस लिए पाप से वास्तविक घृणा करने वाला आदमी यदि कदाचित् अशक्ति और अज्ञान के कारण धर्मच्युत हो जावे तो उपगूहन अंगधारी मालूम होने पर भी उसे प्रकट नहीं करेगा, क्योंकि ऐसा करने से धर्म के प्रति लोगों की श्रद्धा में शिथिलता आती है। और उसका उत्तर-दायित्व बहुत कुछ उस पर भी है जो उसकी निंदा करता है।

उपबृंहण और उपगूहन दोनों शब्द भिन्न २ होने पर भी अर्थ की अपेक्षा इस अंग में कोई भेद नहीं है—यही बात कहते हैं :—

उपगूहनमिदं चाहुः, केचिदङ्ग महर्षयः।
नामभेदो ह्ययं किन्तु, नार्थतो भिन्नतास्ति वै ॥७१॥
धर्मिदोषोपगूहेन, स्वात्मधर्मो हि वर्द्धते।
विवर्द्धितात्मधर्मो हि, गुणग्राही भवेन्नरः ॥७२॥

कुछ आचार्य (जैसा कि ऊपर के श्लोकों में कह आये हैं) इस अंग को उपगूहन कहते हैं। परन्तु इन दोनों में केवल नाम मात्र का भेद है अर्थ में कोई भेद नहीं। क्योंकि धर्मात्माओं के दोषों को छिपाने से आत्मधर्म की वृद्धि होती है और आत्मधर्म की वृद्धि हो जाने पर मनुष्य गुणों को ही ग्रहण करता है।

धर्मात्माओं के दोषों को ढकने के विचार मनुष्य में सहानुभूति और उदारता की भावना प्रकट करते हैं और यही उपबृंहण अर्थात आत्म धर्म की वृद्धि कहलाता है। इसी तरह जिसने ऐसी उपबृंहणता प्राप्त की है—आत्मा में उदारता और क्षमा आदि गुणों को बढ़ाया है, वह कभी दुर्भाव से धर्मात्माओं की निंदा न करेगा और इसे ही उपगूहन कहते हैं। इस प्रकार इन दोनों नामों में कुछ भी वास्तविक भेद नहीं है।

अब स्थितिकरण अंग का लक्षण कहते हैं:—

न्याय्यात्पथो विचलतां हि कषाययोगात्,
यत्स्थापनं भवति तत् स्थितिकारमाहुः।
ये संस्खलन्तमवलोक्य हसन्ति मूढ़ाः,
तैर्धर्मतत्त्वमिह नैव कदापि बुद्धम् ॥७३॥

क्रोधादि कषायों के वश होकर या अन्य कारणों से कर्तव्यमार्ग से च्युत होने वाले मनुष्यों को जैसे हो वैसे कर्तव्य पर आरूढ़ करना, कर्तव्य से गिरने न देना, सम्यक्त्व का छठा 'स्थितिकरण' अंग कहलाता है। जो गिरते हुए को देख कर हंसते हैं, उन्होंने कभी धर्म का स्वरूप नहीं समझा है।

मनुष्य कमज़ोरियों का पुञ्ज है। निमित्त मिलने पर या विना निमित्त के भी उसके हृदय में कषायें उत्पन्न होती रहती हैं। कषायों के निमित्त से वह अपने आपको संभालने में असमर्थ

हो जाता है। श्रद्धान व चारित्र की कल्याणकारी मर्यादा को तोड़ने में त पर हो जाता है और कर्तव्यमार्ग से भ्रष्ट होकर विपथगामी वन जाता हैं। ऐसे समय में अगर कोई उसे संभालने वाला हो तो संभव है वह न्यायमार्ग से न गिरे। उस समय उस संभालने वाले सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य है कि वह उस गिरने वाले को उस कर्तव्यमार्ग की मंगलमयता, सुविधा और सुखजनकता वतलावे और यह भी वतलावे कि जिस मार्ग में वह जारहा है वह कितना भयंकर, आपत्तिजनक और दुःखदायक हैं। सम्यग्दृष्टि ऐसा ही करता है।

कर्तव्यमार्ग से गिरने का कारण केवल कषाय ही नहीं है। परिस्थितियां भी मनुष्य को कर्तव्य से गिरने के लिये मजवूर करती हैं। मान लीजिये एक आदमी भूखा है। सव कुछ न्याया-नुकूल प्रयत्न करने पर भी उसको भोजन नहीं मिल रहा है। ऐसे समय वह जो कुछ करेगा उसे हम पतन कहेंगे, पर क्या इस पतन का कारण उसकी कषायें हैं? ऐसे मनुष्य के प्रति हमारा क्या कर्तव्य है? यही कि हम उसके भोजन का प्रवन्ध करें और भोजन पाने के लिए वह जिस पाप मार्ग की ओर अग्रसर हो रहा था उससे उसको दूर रक्खें। यह एक उदाहरण है। मनुष्य की प्राकृतिक आवश्यकताएं अपनी पूर्ति चाहती हैं। उसका वैध साधन न मिलने पर वह अवैध साधनों के द्वारा उनकी पूर्ति करना चाहेगा और इस तरह वह कर्तव्य-भ्रष्ट हो जायगा। इस लिये उसकी भोजनादि प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना

सम्यग्दृष्टि अपना कर्तव्य समझता है ताकि वह कर्तव्य-भ्रष्ट न हो।

जिनके हृदय में सहानुभूति नहीं होती वे दूसरे के दुःखों की पर्वाह नहीं करते। दूसरे गिरें चाहे उठें उन्हें कुछ मतलब नहीं। ऐसे लोग दूसरों को गिरते हुए देख कर हंसते हैं और गिरते हुओं को एक धक्का और देते हैं। यह निश्चित है कि ऐसे मनचले लोगों ने धर्म के रहस्य को कभी नहीं समझा है। दुनियां में ऐसे वहुत कम लोग हैं जो मुसीबतों का शिकार होकर भी अटल वने रहते हैं और दुःखों की चट्टानों को तोड़ कर अपना मार्ग वना लेते हैं। ऐसे लोग महात्मा होते हैं और उनके लिए किसी के स्थितिकरण की जरूरत नहीं होती। पर सव तो ऐसे नहीं होते। इस लिए कपाय या अन्य परिस्थितियों के वश होकर जो श्रद्धा और आचरण से गिर रहे हों उनको अवश्य उठाना चाहिये। गरीबों की सहायता करना, वेकार भाई वहिनों को काम पर लगाना, अनाथ वच्चे और विधवाओं की सहायता करना आदि इसी अंग के अंतर्गत हैं।

आगे वात्सल्य और प्रभावना अंग के संवंध में कहते हैं कि :—

प्रभावनावत्सलताद्वयं हि—
व्याख्यास्यतेऽग्रे खलु भावनासु।
ततो न किञ्चित्प्रतिपाद्यतेऽत्र,
अंगद्वये ही पुनरुक्ति-भीतेः ॥७४॥

सम्यक्त्व के छह अंगों का वर्णन ऊपर कर दिया गया है। अब वात्सल्य और प्रभावना नामक अंग का वर्णन यहां न करेंगे क्योंकि सोलह भावनाओं में प्रवचन-वात्सल्य और मार्ग प्रभावना नाम की भावना मौजूद है जो इन्हीं दो अंगों का नामांतरमात्र है इस लिये पुनरुक्ति का ख्याल कर यहां इन दोनों अंगों के वर्णन करने की आवश्यकता नहीं समझी गई क्योंकि भावनाओं के कथन में उनका वर्णन होगा ही।

अब सम्यग्दर्शन के भेदों का वर्णन करते हैं:—

सरागं वीतरागञ्च द्विभेदं दर्शनं मतम्।
वेदकं क्षयजश्चापि, तथोपशमजं त्रयम् ॥७५॥
आज्ञादिभेदतो भेदा दशाख्याता, निसर्गतः।
तथाधिगमतो जातमित्थं भेदद्वयं मतम् ॥७६॥

सम्न्दर्शन के दो भेद हैं—सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। सम्यक्त्व के तीन भेद भी हैं—वेदक, क्षायिक और औपशमिक। और आज्ञा, मार्ग आदि के भेद से इसके दश भेद भी हैं। एवं निसर्गज और अधिगमज की अपेक्षा भी दो भेद हैं।

इस प्रकार शास्त्रों में सम्यक्त्व के भेदों का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। इनमें सम्यक्त्व के पहले दो भेद स्वामित्व की अपेक्षा किये गये हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन के स्वामी

सराग और वीतराग दो तरह के जीव होते हैं। तीन भेद कर्मों की क्षयादि अवस्थाओं की अपेक्षा किए गए हैं और यही भेद प्रधान हैं; क्योंकि ये सभी भेदों में मिलते हैं। दश भेद उत्पत्ति के भिन्न भिन्न कारणों की अपेक्षा किये हैं। और अंत के दो भेद कारणत्व और अकारणत्व की अपेक्षा से हैं। क्रम से उक्त सभी भेदों का वर्णन करते हैं:—

सर्व प्रथम सराग और वीतराग सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझिए:—

शमादिलक्षणं ज्ञेयं सरागं रागवर्तिषु ।
सूक्ष्मलोभान्तजीवेषु, वीतरागं ततः परम् ॥७७॥
आत्मशुद्धिस्वरूपं हि वीतरागं प्रचक्ष्यते ।
न तत्र प्रशमादीनां विकल्पोऽस्तीति भाषितम् ॥७८॥

प्रशम÷, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य जिसके होने पर पर प्रकट हो जावे वह सराग सम्यग्दर्शन है। यह सम्यक्त्व सरागी अर्थात् रागांश वाले चौथे गुणस्थान से दशवें सूक्ष्म-सांपराय या सूक्ष्म लोभ गुणस्थान तक के जीवों के होता है। राग चारित्र मोहनीय का एक भेद है और इसका उदय दशवें गुण-स्थान तक होता है। इस लिए वहां तक के सम्यक्त्व को सराग सम्यक्त्व कहा है। इसके बाद वीतराग सम्यक्त्व होता है।

वीतराग सम्यक्त्व आत्म विशुद्धि मात्र ही है। क्योंकि

---

÷ प्रशमादि का लक्षण आगे के पद्य में वर्णन किया गया है।

एकादशादि गुणस्थानों में प्रशम-संवेगादि का विकल्प नहीं होता। यह विकल्प तो दशवें तक ही रह जाता है जब तक कि रागभाव का उदय है।

अब प्रशमादि के स्वरूप का वर्णन करते हैं:—

रागादीनामनुद्रेकः शमः संवेग उच्यते।
संसृतेर्भीरुताऽऽस्तिक्यं सत्यतत्त्वास्तितामतिः ॥७९॥
सर्वसत्त्वाऽनभिद्रोहोऽनुकंपा कथ्यते जिनैः।
एतच्चतुष्टयव्यक्ति-लक्षणा हि सरागदृक् ॥८०॥

आत्मा पर रागादि वृत्तियों का प्रभाव न होना शम या 'प्रशम' कहलाता है और संसार के कारण पापों से डरना 'संवेग' है। सत्य तत्वों के विषय में आस्तिक्य बुद्धि रखना—नास्तिक्य से उलटे—'आस्तिक्य' का लक्षण है। किसी भी जीव पर द्रोहबुद्धि न रखना 'अनुकंपा' या दया कहलाता है। इन चारों का आत्मा में प्रकट होना सराग सम्यक्त्व है।

आगे यह बताते हैं कि किस गुणस्थान तक सम्यग्दर्शन के हो जाने का पता जीवों को कैसे लगता है:—

स्वगतैः प्रशमप्रमुखैः चतुर्भिरुक्तैर्हि सूक्ष्मलोभान्ताः।
जानन्ति निजां दृष्टिमनुयोगे वृत्तनामनि प्रोक्ताम् ॥८१॥
प्रमत्तान्तान्यगां दृष्टिं तेषां वाक्कायचेष्टयाऽ-
नुमानेन विजानन्ति विद्वांसः प्राप्तदृष्टयः ॥८२॥

सूक्ष्मलोभांत अर्थात् सूक्ष्म सांपराय नामक दशवें गुण-स्थान तक के जीव चरणानुयोग की अपेक्षा से वर्णित अपने सम्यग्दर्शन को अपने आत्मा में उत्पन्न प्रशमादि चारों के द्वारा जान लेते हैं। और प्रमत्तविरत नामक छठे गुणस्थान तक के सम्यग्दर्शन को दूसरे सम्यग्दृष्टि विद्वान लोग भी उन जीवों के मन वचन और काय की चेष्टा से अनुमान के द्वारा जान लेते हैं।

प्रश्न—जैन शास्त्रों में यह भी देखने में आया है कि अपने सम्यग्दर्शन का पता अपने आपको भी नहीं लगता। शुक्ल लेश्या को धारण करने वाला द्रव्य लिंगी मुनि जो नौ पूर्व तक का जानने वाला होता है उसे भी अपने मिथ्यात्व का पता नहीं लगता तब यहां अपने व दूसरे के सम्यक्त्व को जानने की बात कैसे कही गई ?

उत्तरः—जैन शास्त्रों में सम्यक्त्व का वर्णन विभिन्न अनु-योगों में वर्णित है। चरणानुयोग के अनुसार जो सम्यक्त्व का वर्णन है वह बाह्य चारित्र की अपेक्षा से है। पात्रों के उत्तम मध्यम और जघन्य जो तीन भेद किये हैं वे चरणानुयोग की अपेक्षा से ही हैं। अगर इन भेदों को करणानुयोग की अपेक्षा से मानें तब तो जो मनुष्य थोड़ी देर पहले ग्यारहवें गुणस्थान में है वही अन्तर्मुहूर्त में पहले गुणस्थान में आ जाता है और इस बात का पता दातार को लग नहीं सकता। तब पात्रापात्र की व्यवस्था कैसे बन सकती है ? इस लिए इसे चरणानुयोग की अपेक्षा से ही मानना चाहिए। इसी तरह छठे गुणस्थान तक

सम्यक्त्व भी दो अनुयोगों द्वारा माना जाता है। चरणानुयोग में सब व्यवस्था वाह्य चारित्र की अपेक्षा से है। इस लिए सम्यक्त्व का लक्षण भी वाह्य चारित्र की अपेक्षा से ही निर्धारित किया गया है। छठे गुणस्थान तक के जीवों के सम्यक्त्व को जो दूसरे लोग अनुमान से जान लेते हैं, वह चरणानुयोग का सम्यक्त्व है, करणानुयोग का नहीं। करणानुयोग के अनुसार तो सम्यक्त्व घातक कर्मों के क्षय, क्षयोपशम और उपशम की अपेक्षा से है। वहां वाह्य चारित्र की उतनी प्रधानता नहीं। वाह्य चारित्र में कुछ गड़वड़ी नहीं होने पर भी गुणस्थान उतर जाता है।

छठे गुणस्थान के ऊपर गुणस्थानों की व्यवस्था करणानुयोग के अनुसार ही है। यह कहना गलत है कि किसी को भी अपने सम्यक्त्व का पता अपने आप नहीं लगता। मिथ्यात्व का पता चाहे स्वयं को न लगे पर सम्यक्त्व तो मालूम हो ही जाता है। अगर सातवें इत्यादि गुणस्थान वाले जीवों को भी अपने सम्यक्त्व का पता न चलेगा तो फिर उन्हें आत्मानुभव ही क्या हुआ? पर चौथे, पांचवें और छठे गुणस्थान तक के जीवों के संवंध में तो यह वात फिर भी किसी अंश में सही हो सकती है।

आगे निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझाते हैं:—

नैसर्गाधिगमौ भेदौ सद्दृष्टेरपरौ मतौ।
अन्योपदेशसापेक्षाऽनपेक्षाभेदतस्तथा ॥८३॥

सम्यग्दर्शन के दो भेद निसर्गज और अधिगमज के भेद से भी हैं। जो दूसरे के उपदेश की अपेक्षा के बिना अपने आप ही उत्पन्न हो जाता है वह नैसर्ग अथवा 'निसर्गज' सम्यग्दर्शन है। और जो दूसरे के उपदेश की सहायता से उत्पन्न होता है वह 'अधिगमज' है।

गुरू के उपदेश से, विद्वानों की संगति से, तत्वचर्चा से, शास्त्रस्वाध्याय आदि से आत्मस्वरूप की प्रतीति होना अधिगमज सम्यग्दर्शन है। पर इन ज्ञान के निमित्तों के बिना जो आत्म-श्रद्धान होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है। बादलों की क्षणिकता, मनुष्यादि प्राणियों की आकस्मिक मृत्यु एवं अन्य पदार्थों की क्षणभंगुरता देख कर जो स्वयं आत्मप्रतीति होती है वह निसर्गज सम्यक्त्व के उदाहरण हैं।

आगे सम्यक्त्व के तीन भेदों का वर्णन करते हैं :—

सम्यङ्मिथ्यात्व-मिथ्यात्वसम्यक्प्रकृतयस्तथाऽ-<br>
नन्तानुबन्धिनः सर्वे सप्तैते दृष्टिनाशकाः ॥८४॥<br>
क्षायिकं क्षयतो जातमेतेषां सप्तकर्मणाम् ।<br>
तृतीये वा चतुर्थे वा भवे मोक्ष-प्रदायकम् ॥८५॥

अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व, सम्यङ्-मिथ्यात्व एवं सम्यक्प्रकृति-ये सात कर्म प्रकृतियां सम्यक्त्व का नाश करने वाली हैं। इनके क्षय से क्षायिक सम्य-

ग्दर्शन होता है। और क्षायिक सम्यक्त्व हो जानेपर वह तीसरे या चौथे भव में अवश्य संसार से मुक्त हो जाता है।

प्रश्न—अनंतानुबंधी तो चारित्र मोहनीय की प्रकृति है इस इस लिये वह चारित्र का ही घात करेगी, उसे सम्यक्त्व की घातक क्यों कहा? अगर वह सम्यक्त्व की ही घातक है तो फिर उसे दर्शन मोहनीय में ही गिनाना था।

उत्तर—अनंतानुबंधी के उदय से क्रोधादिरूप परिणाम उत्पन्न होते हैं, अतत्व-श्रद्धान नहीं होता। इस लिये यह चारित्र को ही घातती है, सम्यक्त्व को नहीं। वास्तव में वात तो यही है, किंतु अनंतानुबंधी के उदय से जिस तरह के क्रोधादिक भाव होते हैं उस तरह के क्रोधादिक परिणाम सम्यक्त्व के रहते हुए नहीं होते। इस तरह सम्यक्त्व और अनंतानुबंधीके अभाव के निमित्त और नैमित्तिक भाव है। जैसे त्रसपने की घातक तो स्थावर प्रकृति ही है किंतु त्रस होते हुए एकेन्द्रियजाति प्रकृति का उदय नहीं होता इस लिए उपचार से एकेन्द्रियजाति प्रकृति को त्रसपने की घातक कह सकते हैं। वैसे ही यद्यपि सम्यक्त्व का घातक तो दर्शन मोहनीय है तो भी सम्यक्त्व के रहते हुए अनंतानुबंधी कषाय का उदय नहीं होता। इस लिए उपचार से अनंतानुबंधी को भी सम्यक्त्व का घातक कह सकते हैं। अथवा अनंतानुबंधी कषाय सम्यक्त्व और चारित्र दोनों को घातने का स्वभाव रखती है। इस लिये सम्यक्त्व की उत्पत्ति में उसका अनुदय भी उतना ही जरूरी है जितना कि दर्शन मोहनीय की प्रकृतियों का।

प्रश्न—अगर ऐसा है तो उसे चारित्र मोहनीय की प्रकृतियों में क्यों गिनाया?

उत्तर—प्रधानतया यह क्रोधादिकों को उत्पन्न करने वाली है। इस लिए जितनी उसमें चारित्र-घातकता रहती है उतनी दर्शनघातकता नहीं रहती।

प्रश्न—अगर ऐसा है तब तो उसका उदय न रहने पर कुछ चारित्र उत्पन्न होना चाहिए। किंतु ऐसा तो नहीं होता, क्योंकि तीसरे और चौथे गुणस्थान में उसका उदय न रहने पर भी चारित्र पैदा नहीं होता।

उत्तर—कषायों के अनंतानुवंधी आदि भेद तीव्रता मंदता की अपेक्षा से नहीं हैं। अर्थात् यह वात नहीं है कि जो कषाय तीव्र हो उसे अनंतानुवंधी और मंद, मंदतर, मंदतम को अप्रत्याख्यानादि कहते हैं। क्योंकि मिथ्यादृष्टि के चाहे तीव्र कषाय हो चाहे मंद कषाय हो—अनंतानुवंधी आदि चारों का उदय युगपत् माना जाता है। मिथ्यादृष्टि के चारों कषायों के उत्कृष्ट स्पर्द्धक+ समान हैं। हां, इतनी वात अवश्य है कि अनंतानुवंधी कषाय के साथ जैसा तीव्र उदय अप्रत्याख्यानादि का होता है वैसा उसके न रहने पर नहीं होता। वैसे ही अप्रत्याख्यान के साथ प्रत्याख्यान और संज्वलन का जैसा उदय होता है वैसा अप्रत्याख्यान के चले जाने पर नहीं होता। इसी तरह प्रत्याख्यानके साथ जैसा संज्वलन

---

+वर्गणाओं के समूह को स्पर्द्धक कहते हैं।

का उदय होता है वैसा केवल संज्वलन का नहीं होता। इस लिए अनंतानुवंधी के चले जाने पर यद्यपि कषायों की मंदता तो होती है, पर ऐसी मंदता नहीं होती जिसे चारित्र कहा जा सके। क्योंकि असंख्यात लोक प्रमाण कषायों के स्थानों के आचार्यों ने तीन भेद कर दिये हैं। जिनमें आदि के बहुत से स्थान तो असंयमरूप हैं। इसके बाद कुछ देश संयम रूप हैं और फिर कुछ सकल संयम रूप हैं। पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान तक जो कषायों के स्थान हैं वे सब असंयम रूप ही हैं। इस लिये कषायों की मंदता होते हुए भी वे चारित्र नहीं कहलाते। यद्यपि वास्तव में कषाय घटना चारित्र का अंश है तथापि वह कषाय का घटना चारित्र कहलाता है जिससे यह जीव एक देश संयम या सकल संयम-धारण कर सके। असंयम में ऐसी कषाय घटती नहीं इस लिये अनंतानुवंधी के उदय का अभाव होने पर भी चारित्र नहीं कहला सकता।

प्रश्न—आपने ऊपर कहा है कि अनंतानुवंधी वास्तव में सम्यक्त्व को नहीं घातती क्योंकि वह चारित्र मोहनीय की प्रकृति है तो फिर प्रश्न यह होता है कि इसके उदय होने पर जीव सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर सासादन गुणस्थान को कैसे प्राप्त हो जाता है ?

उत्तर—अनंतानुवंधी के उदय से सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता,

किंतु उसके उदय हो जाने के एक समय † या अधिक से अधिक छह आवली‡ के बाद सम्यक्त्व का नष्ट होना अवश्यंभावी है। इसी अपेक्षा से अनंतानुबंधी को सम्यक्त्व का विराधक कह दिया गया है। वास्तव में तो सम्यक्त्व का नाश तभी होगा जब मिथ्यात्व का उदय हो जायगा। सासादन गुणस्थान तो सम्यक्त्व ही का काल है। क्योंकि सम्यक्त्व के नष्ट होने में अधिक से अधिक छह आवली और कम से कम एक समय बाकी रहता है तभी सासादन गुणस्थान होता है। इस लिये जब तक मिथ्यात्व का उदय नहीं हो तब तक सम्यक्त्व का उदय ही मानना चाहिये। फिर भी—मनुष्य पर्याय के नाश का कारण भयंकर रोग उत्पन्न हो जाने पर जैसे हम किसी मनुष्य को मनुष्य पर्याय छोड़ने वाला कह देते हैं वैसे ही—सम्यक्त्व के नाश का कारण अनंतानुबंधी का उदय होने पर सासादन कह दिया जाता है। वस्तुतः तो सम्यक्त्व का नाश तभी होगा जब मिथ्यात्व का उदय हो जायगा। जैसे कि वास्तव में तो मनुष्य पर्याय का नाश तभी माना जायगा जब उसे छोड़ कर दूसरी पर्याय को जीव प्राप्त हो जायगा। इस

---

† व्यवहारकाल के सब से छोटे हिस्से को एक समय कहते हैं। अथवा जितने काल में एक पुद्गल परमाणु अपनी मंद गति से आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाता है—उसको एक समय कहते हैं।

‡ असंख्यात समय की एक आवली होती है और एक श्वास में असंख्यात आवली होती हैं।

तरह अनंतानुबंधी को भविष्यत की अपेक्षा उपचार से सम्यक्त्व का घातक कहा गया है।

अब यह बताते हैं कि क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाने पर उसका क्या महत्व है:—

न च गच्छति मिथ्यात्वं,
तथैव सन्देहमपि न यत्कुरुते।
विस्मयमपि मिथ्यात्व-
संजनितं यन्न संतनुते ॥८६॥

क्षायिक सम्यग्दर्शन हो जाने पर जीव कभी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता। और न कभी तत्वों में संदेह को उत्पन्न करता है। इस सम्यक्त्व को धारण करने वाला जीव मिथ्यात्व से उत्पन्न होने वाले अतिशयों को देखकर भी आश्चर्य-चकित नहीं होता।

क्षायिक-सम्यग्दृष्टि-जीव के मिथ्यात्वकर्म के निषेकों† का सर्वथा अभाव हो जाता है। इस लिये वापिस मिथ्यात्व में लौटने का उसके कोई कारण नहीं है। और इसी लिए उसके प्रयोजनभूत जीवादि तत्वों में कभी संदेह नहीं होता; क्योंकि संदेह का कारण मिथ्यात्वकर्म तो नष्ट हो गया। इस सम्यक्त्व

† एक समय में उदय में आने वाले कर्म प्रमाणुओं के समूह को निषेक कहते हैं।

का धारण करने वाला जीव देवी, देव, भूत प्रेतादि की उपासना से अथवा मंत्र तंत्र यंत्रादि के प्रयोजन से होने वाले अतिशय को देखकर भी कभी आश्चर्य नहीं करता। सच बात तो यह है कि यह जीव अतिशयों का महत्व बिलकुल नहीं मानता। क्योंकि अतिशय आत्मा की महत्ता के सूचक नहीं हैं। अधिकांश अतिशय तो झूंठे और पाखण्ड पूर्ण होते हैं। देवता की महत्ता भी इस बात से नहीं है कि वह अतिशय वाला है। आचार्य समंतभद्र स्वामी ने उनकी निःसारता प्रकट की है। उनने अपने 'देवागम स्तोत्र' में सर्वप्रथम लिखा है कि—

देवागमनभोयानचामरादि-विभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥
अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादि-महोदयः।
दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥२॥

हे भगवन्! आपके लिये देवता आते हैं, आप आकाश में चलते हैं, आप पर चौसठ चमर ढुरते हैं, देवता पुष्पवृष्टि करते हैं। लेकिन इन बातों से आप हमारे पूज्य नहीं हो सकते क्योंकि ये सब बातें तो मायावियों—इन्द्रजालियों में भी देखी जाती हैं। यदि इन्हीं बातों से कोई पूज्य बन जाता हो तब तो आप में और इन्द्रजालियों में कोई भेद न रह जायगा और इंद्रजाली भी पूज्य बन जावेंगे।

तब भगवान कहते हैं कि तुम्हारा यह कहना तो ठीक है

लेकिन कई अतिशय ऐसे हैं जो इन्द्रजालियों में नहीं होते अतः उनके कारण तो मुझे महान्-पूज्य मान लो। इसपर स्वामी समंतभद्र उत्तर देते हैं कि—नहीं। माना कि पसीना, मल-मूत्र आदि का कभी न आना आपके अंतरंग विभूति और गंधोदक की वर्षा होना वगैरह वहिरंग विभूतियां सत्य हैं अर्थात् मायावियों के नहीं होतीं और दिव्य हैं अर्थात् मनुष्य तथा चक्रवर्ती वगैरह के नहीं होतीं लेकिन अक्षीण कषाय वाले देवों के तो होती हैं और वे हैं रागादियुक्त। अतः आप इनकी वजह से भी पूज्य नहीं हैं।

इस तरह समंतभद्र स्वामी ने इस बात का खण्डन किया है कि 'कोई अतिशयविशिष्ट होने से ही पूज्य बन सकता है'। क्षायिक सम्यग्दृष्टि कभी अतिशयों को महत्व नहीं देता।

अब क्षायिक सम्यक्त्वकी स्थिति कितनी है यह बताते हैं—

संसारेऽस्य स्थितिर्ज्ञेया जघन्यान्तर्मुहूर्तिकी।
उत्कृष्टा तु त्रयस्त्रिंशत् सागरा साधिका मता ॥८७॥
मुक्तौ तु सादिसानन्ता स्थितिरस्यावधार्यताम्।
इदं हि दर्शनं ज्ञेयं नित्योद्योतं सदाऽचलम् ॥८८॥

संसार की अपेक्षा से क्षायिक सम्यग्दर्शन की स्थिति कम से कम (जघन्य) अन्तर्मुहूर्त की और अधिक से अधिक (उत्कृष्ट) कुछ ज्यादा तेतीस सागर की है। और मुक्ति की अपेक्षा सादि अनंत है। यह सम्यग्दर्शन हमेशा प्रकाशमान और अचल रहने वाला है।

संसार की अपेक्षा जो क्षायिक सम्यक्त्वकी स्थिति उपर्युक्त प्रकार से बतलाई है उसका मतलब यह है कि यह सम्यक्त्व उत्पन्न होने के बाद जीव एक अंतर्मुहूर्त में भी मुक्ति को प्राप्त हो सकता है और अधिकसे अधिक संसार में रहे तो तेतीस सागर* से कुछ ज्यादा अर्थात् सांतर्मुहूर्त आठ वर्ष कम दो करोड़ पूर्व + सहित तेतीस सागर ठहर सकता है। इससे अधिक नहीं। यह स्थिति इस प्रकार समझनी चाहिये कि किसी एक करोड़ पूर्व की आयु वाले मनुष्य के आठ वर्ष और अंतर्मुहूर्त के बाद क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ। इसके पश्चात् वह सारी मनुष्य आयु पूर्ण कर तेतीस सागर आयुका धारक सर्वार्थसिद्धि नामक अनुत्तर विमान का देव होगया। फिर वहां से चय कर एक करोड़ पूर्व की आयु का धारक मनुष्य होगया और फिर मुक्ति चला गया। इस

---

*दो हजार कोश गहरे चौड़े और गोल गड्ढे में सात दिन तक के मेंडे के बालों के टुकड़ों को, जिनका दूसरा टुकड़ा न हो सके–भर दिया जाय और फिर उनमें से सौ वर्ष व्यतीत होने पर एक बाल निकाला जाय। जब वह गड्ढा खाली हो जाय तब एक 'व्यवहार पल्य' होता है। व्यवहार पल्य से असंख्यात गुणा 'उद्धार-पल्य' और उद्धारपल्य से असंख्यात गुणा 'अद्धापल्य' होता है। दश कोड़ाकोड़ी अद्धापल्यों का एक सागर समझना चाहिये। और तेतीस से गुणा करने पर तेतीस सागर जानना चाहिए।

+चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वांग और चौरासी लाख पूर्वांग का एक पूर्व होता है।

तरह तेतीस सागर और अंतर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम दो करोड़ पूर्व तक क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव संसार में रह सकता है।

प्रश्न—दो करोड़ पूर्व में आठ वर्ष अंतर्मुहूर्त कम करने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—किसी भी मनुष्य के आठ वर्ष और अंतर्मुहूर्त की आयु के पहले सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता।

प्रश्न—जब मनुष्य की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य की है तो फिर यहां एक करोड़ पूर्व की क्यों बतलाई?

उत्तर—यद्यपि मनुष्य की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य की है किंतु भोगभूमि के मनुष्य के क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं हो सकता। क्षायिक सम्यग्दर्शन तो कर्मभूमि के मनुष्य के ही होता है और कर्मभूमि के मनुष्य की उत्कृष्ट आयु एक करोड़ पूर्व की ही होता है।

प्रश्न—अगर क्षायिक सम्यग्दर्शन कर्म भूमि के मनुष्य के ही होता है। तो भोगभूमि के मनुष्य के उसका सद्भाव कैसे पाया जाता है?

उत्तर—क्षायिक सम्यक्त्व का सद्भाव तो चारों ही गतियों में पाया जा सकता है किंतु होता कर्मभूमि के मनुष्य के ही है

प्रश्न—भोगभूमि के मनुष्य के वह कैसे पाया जाता है?

उत्तर—क्षायिक सम्यक्त्व का सद्भाव तो चारों ही गतियों में पाया जा सकता है किंतु कर्मभूमि के मनुष्य के अतिरिक्त किसी गति के जीव के भी उसकी उत्पत्ति नहीं होती।

अन्यत्र तो वह पहले जन्म से आया हुआ ही विद्यमान रहता है। जिस जीव के मनुष्यायु का बंध पहले हो जाता है और फिर क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तो वह मर कर भोगभूमि का ही मनुष्य होता है, कर्मभूमि का नहीं। इस लिये भोगभूमि के मनुष्य के पहले भव से आया हुआ क्षायिक सम्यक्त्व है, वहां पैदा नहीं होता। इसी तरह तिर्यञ्चगति में भी भोगभूमि के तिर्यञ्च के भी उसका सद्भाव पाया जाता है क्योंकि तिर्यगायु के बंध करने के बाद अगर किसी मनुष्य के सम्यक्त्व हो जाय तो वह भोग भूमि का ही तिर्यञ्च होगा।

किसी भी सम्यक्त्व के लिये साधारणतया यह नियम है कि अगर सम्यक्त्व की उत्पत्ति के बाद आयु का बंध होगा तो देव आयु का ही होगा और वह जीव कल्पवासी देवों में ही उत्पन्न होगा। किंतु सम्यक्त्व की उत्पत्ति के पहले अगर नरक आयु का बंध हुआ तो वह जीव प्रथम नरक से आगे न जायगा। मनुष्य आयु का बंध हुआ तो भोगभूमि का मनुष्य होगा। तिर्यगायु का हुआ तो भोगभूमि का तिर्यञ्च होगा। और देवायु का बंध हुआ तो भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में उत्पन्न न होकर कल्पवासियों में ही पैदा होगा।

इस तरह संसार की अपेक्षा इस क्षायिक सम्यक्त्व की स्थिति बतलाई। मुक्ति की अपेक्षा तो इसकी स्थिति सादि और अनन्त है। क्योंकि मुक्ति की आदि तो है पर उसका अन्त नहीं है।

यह सम्यग्दर्शन आत्मा में सदा प्रकाशमान और अचल है अर्थात् एक वार उत्पन्न होने के पश्चात् कभी नष्ट न होने वाला है। इसकी महिमा अपार है।

प्रश्न—क्या सम्यग्दृष्टि जिस समय सांसारिक विषयों में प्रवृत्त होता है उस समय भी क्षायिक सम्यग्दर्शन रहता है ?

उत्तर—हां ! अवश्य रहता है।

प्रश्न—तब फिर उसकी क्या उपयोगिता है जब कि उसके रहते हुए भी विषय भोगों में प्रवृत्ति होती है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन की यह उपयोगिता है कि उसके रहने संसार और शरीर की हेयता का श्रद्धान, आपापर का भेद-विज्ञान एवं जीवादि प्रयोजनभूत तत्वों का श्रद्धान हो जाता है।

प्रश्न—अगर ऐसा है तो फिर यह जीव संसार को छोड़ क्यों नहीं देता ?

उत्तर—संसार की हेयता का श्रद्धान होने पर भी जब तक चारित्र मोहनीय कर्म का उदय रहता है तब तक यह जीव संसार अथवा विषय भोगों को छोड़ नहीं सकता। इच्छा न रहने पर भी उन्हें ग्रहण करना ही पड़ता है। जैसे रोग हो जाने पर कटु औषधि लेने की इच्छा न रहते हुए भी उसे औषधि लेनी ही पड़ती है। वैसे ही क्षुधा तृषा, काम आदि वेदनाओं के आधीन होकर भोजन पान स्त्री पुरुष आदि पदार्थों को सम्यग्दृष्टि जीव ग्रहण करता है पर मिथ्यादृष्टि की तरह इन पदार्थों को आसक्ति से ग्रहण नहीं करता और अंतरंग में समुचित अवसर आते ही

इन्हें छोड़ देने का विचार रखता है। पर मिथ्यादृष्टि ऐसा नहीं होता। उसे विषयों में बिलकुल घृणा नहीं होती। वह अत्यन्त आसक्ति के साथ उनका उपभोग करता है और उनके संयोग वियोग में आनंद और शोक मानता है।

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि जब विषय भोगों में प्रवृत्त रहता है अथवा अन्य किसी विचार में लगा रहता है तब भी उसे क्या आपापर का भेद विज्ञान, संसार की हेयता का श्रद्धान या जीवादि प्रयोजन भूत तत्वों की प्रतीति बनी रहती है?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि चाहे कुछ भी करता रहे या किसी भी विचार में लगा रहे-उसका आपापर का भेद विज्ञान रूप श्रद्धान बना ही रहता है। और इसी श्रद्धान के प्रभाव से वह जो कुछ काम करता है या सोचता विचारता है वह सब ठीक ही होता है। वह व्यापार करेगा, आवश्यकता पड़ने पर युद्ध करेगा, स्त्री पुत्रादिकों से प्रेम करेगा, इन्द्रियों के विषयों का उपभोग करेगा, हंसेगा रोवेगा, पर उसकी ये सब क्रियाएं उसके सम्यग्दर्शन का नाश न कर सकेंगी। क्योंकि इन सब को करता हुआ भी वह इन्हें हेय समझता है। ये सब काम मिथ्यादृष्टि भी करता है, पर भेद-विज्ञान न होने के कारण ये उसके तीव्रबंध के ही कारण हैं। सम्यग्दृष्टि तो इन्हें करता हुआ भी कर्मों की असंख्यातगुणी निर्जरा ही करता है। इसी लिये तो शास्त्रों में कहा है कि सम्यग्दृष्टि के भोग भी निर्जरा के कारण हैं। यह सब श्रद्धान की महिमा है।

जैसे नाटक का पात्र (Actor) नाटक की रंगभूमि में राजा, रंक, स्वामी, सेवक, स्त्री, पुरुषादि अनेक वेषों को धारण करता हुआ भी अपने को उन सबसे भिन्न अनुभव करता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि-दुनियां के सब कामों को करता हुआ भी अपने आपको इन सबसे भिन्न अनुभव करता है, और जल में कमल की तरह इनसे अलिप्त रहता है। शास्त्रों में जो दुनियां के पदार्थों से सम्यग्दृष्टि के प्रेम की तुलना नगरनारी (वेश्या) के प्रेम, धाय का दूसरे के बच्चे से प्रेम आदि के दृष्टांत दिये हैं वे सब इसी आशय को प्रकट करते हैं।

प्रश्न—यह सब आपका कहना ठीक है पर यह कैसे हो सकता है कि सम्यग्दृष्टि के भोग भी निर्जरा के कारण हैं?

उत्तर—शास्त्रों में यह बात सम्यग्दृष्टि की महत्ता को प्रकट करने के लिये कही गई है। वास्तव में भोग तो बंध के ही कारण हैं फिर भी सम्यक्त्व के साथ में भोगों का विष नष्ट हो जाता है जो तीव्र बंध का कारण है। आसक्ति न रहने के कारण सम्यक्त्वी के भोगों में मिथ्यात्वी के भोगों की अपेक्षा पाप-बीजता बहुत कम रहती है। इसी बात को ध्यान में रख कर आचार्यों ने उपचार से सम्यक्त्वी के भोगों को निर्जरा का कारण कह दिया है। पर इसका मतलब यह नहीं है कि भोग उपादेय हैं। बुराई बुराई ही है, वह कभी भलाई नहीं हो सकती। हां, यह हो सकता है कि वह भलाई की मौजूदगी में उतना असर न कर सके। एक बलवान आदमी अपथ्य सेवन (बदपर-

हेजी) करे तो वह शक्ति के कारण उतना असर नहीं करती। फिर भी बदपरहेजी तो बुरी चीज ही कहलावेगी और वह निर्बल व्यक्ति को एक ही बार में दिखला देगी कि वह कितनी बुरी चीज है। यह बात नहीं है कि बलवान आदमी को बदपरहेजी हानि नहीं पहुंचाती, पर उसका असर निर्बलों पर जितना जल्दी और ज्यादा होता है उतना बलवानों पर नहीं होता। इसी तरह भोग सम्यग्दृष्टि को हानि ही पहुंचाते हैं और यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि उन्हें छोड़ने को लालायित रहता है।

प्रश्न—अच्छा, एक बात और बतलाइये। एक जीव (छद्मस्थ) के एक समय में एक ही उपयोग होता है, ऐसी जैन सिद्धांत की मान्यता है। तब एक ही आत्मा (सम्यग्दृष्टि) एक ही समय में विषय भोगों और आत्म चिंतन के विचार कैसे रख सकता है? इस लिए यह मानना ही चाहिए कि जब सम्यक्त्वी युद्धादि सांसारिक कार्यों में प्रवृत्त होता है तब उसके आत्म-चिंतन के विचार बिलकुल नहीं रहते क्योंकि एक समय में दो तरह के विचार कैसे रह सकते हैं? इसलिए यह क्यों न मान लिया जावे कि सांसारिक विषयों में प्रवृत्ति होने के समय सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है।

उत्तर—जिस समय सम्यग्दृष्टि जीव युद्धादि सांसारिक विषयों में प्रवृत्ति करता है उस समय आत्म-विषयक अथवा भेद विज्ञान विषयक विचार नहीं करता—यह ठीक है। किंतु भेद-विज्ञान विषयक प्रतीति अवश्य बनी रहती है। एक ही समय में

इन तीन प्रकार के परिणामों द्वारा मिथ्यात्व के निषेकों को सम्यङ्-मिथ्यात्वरूप परिणमन करे अथवा सम्यक्प्रकृतिरूप परिणमावे या निर्जरा करे—इस प्रकार मिथ्यात्व की सत्ता का नाश करे। फिर सम्यङ्मिथ्यात्व के निषेकों को सम्यक्प्रकृतिरूप परिणमन करे अथवा उनकी निर्जरा करे—इस तरह सम्यङ्-मिथ्यात्व प्रकृति का भी नाश करे। तथा सयम्क्त्त्व प्रकृति के निषेक उदय आकर अपने आप ही खिर जावें अथवा उनकी स्थिति ज्यादा हो तो स्थितिकांडादि* द्वारा उसे घटावे जब घटते घटते उसकी स्थिति अंतर्मुहूर्त मात्र रह जाती है तब वह जीव कृतकृत्य वेदक-सम्यग्दृष्टि कहलाता है और क्रम से इसके निषेकों का नाश करता है। तथा अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ के निषेकों का विसंयोजन कर उसकी सत्ता का नाश करता है तब क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है। अनंतानुबंधी का विसंयोजन यद्यपि द्वितीयोपशम एवं किसी २ क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के भी होता है किंतु ये तो जब मिथ्यात्व में वापिस आते हैं तब फिर इनके अनंतानुबंधीकी सत्ताका सद्भाव होजाता है किंतु क्षायिक-सम्यग्दृष्टि तो कभी मिथ्यात्व में नहीं आता इस लिये उसके इसकी सत्ता का कभी सद्भाव नहीं होता।

अब औपशमिक सम्यक्त्व का स्वरूप बताते हैं :—

---

*स्थितिकाण्डादि का स्वरूप गोम्मटसार की बड़ी टीका से समझना चाहिये।

उपशमतः खलु तेषां,
पूर्वोक्तानां हि सप्तकर्मणां ज्ञेयम् ।
उपशमजं सम्यक्त्वं,
प्रसन्नपंकौघतोय-समम् ॥६१॥
आत्मविशुद्ध्या भेदो—
न हि कश्चन विद्यते द्वयोरेव ।
एकं क्षणिकं ह्यन्यत्,
सदाऽचलं किन्तु भेदोऽयम् । ६२॥

पहले ८४वें श्लोक में बताई गई सात प्रकृतियों अर्थात् अनंतानुबंधी चतुष्टय, मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के दब जाने से उपशम सम्यक्त्व होता है। जिस प्रकार कीचड़ के बिलकुल दब जाने से (पेंदे में बैठ जाने से) पानी निर्मल हो जाता है उसके रहते हुए भी पानी में कोई विकार नहीं होता, उसी तरह उक्त सातों प्रकृतियों के दब जाने से आत्मा के सम्यग्दर्शन नामक शुद्धि उत्पन्न हो जाती है। ये दबी हुई हुई प्रकृतियां सम्यक्त्व को रोकने में असमर्थ हैं।

आत्म-विशुद्धि की अपेक्षा क्षायिक और औपशमिक सम्यक्त्व में कोई भेद नहीं होता। इन दोनों में अगर कोई भेद है तो यही है कि—एक (औपशमिक) क्षणस्थायी है और दूसरा (क्षायिक) अविनश्वर एवं नित्य है।

आगे के पद्य में यही कह रहे हैं:—

परिणामप्रत्ययेन, मिथ्यात्वं व्रजति सासनां वापि ।
सम्यङ्मिथ्यात्वं वा, वेदकमिति वा हि पतनशीलमिदम्॥६३

उपशम सम्यग्दृष्टि निमित्त मिलने से पुनः प्रथम गुणस्थान मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है अथवा सासादन नामक दूसरे गुणस्थान में चला जाता है या तीसरे मिश्र गुणस्थान में गिर जाता है नहीं तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी बन जाता है। यह सम्यक्त्व पतनशील है।

उपशम का समय पूरा होने पर अगर मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आ जाता है तो यह जीव पहले गुणस्थान में चला जाता है। इस उपशम सम्यक्त्व के काल में कम से कम एक समय तथा ज्यादा से ज्यादा छह आवली बाकी रहने पर अनंतानुबंधी चतुष्टय में से किसी एक का उदय आ जाने पर जीव के सासादन गुणस्थान हो जाता है। और मिश्र मोहनीय प्रकृति का उदय यदि हो जावे तो तीसरा गुणस्थान हो जाता है। यदि सिर्फ सम्यक् प्रकृति उदय में आ जावे तो वह क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि बन जाता है।

अब उपशम सम्यक्त्व के भेदों को कहते हैं:—

प्रथमद्वितीयनाम्ना,
अस्य भिदे जैनशासने प्रोक्ते।

द्व हि तयोः किल किञ्चित् ,

वर्णनमभिधीयतेऽस्माभिः ॥६४॥

प्रथम-कषाय-चतुष्टय—

मिथ्यात्वानां हि कर्मणां शमनात् ।

उत्पद्यते ह्यनादि—

मिथ्यादृष्टेस्तु तत् प्रथमम् ॥६५॥

जैनसिद्धांत में उपशम सम्यक्त्व के दो भेद कहे गये हैं। एक प्रथमोपशम सम्यक्त्व और दूसरा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। यहां संक्षेप से दोनों ही का स्वरूप बतलाया जाता है।

अनादि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व गुणस्थान में तीन करणों (अधःकरण, अपूर्व करण और अनिवृत्तिकरण) के द्वारा दर्शन मोह के उपशम करने से (अनंतानुवंधी चतुष्टय के अप्रशस्त और मिथ्यात्व के प्रशस्त उपशम करने से) जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहलाता है। इस प्रथमोपशम सम्यक्त्व में अनंतानुवंधी क्रोध, मान, माया, लोभ का अप्रशस्त उपशम होता है।

प्रश्न—अप्रशस्त उपशम किसे कहते हैं?

उत्तर—उपशम के दो भेद हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त। करणों के द्वारा उपशम विधान से जो उपशम होता है वह प्रशस्त उपशम कहलाता है और उदय के अभाव को अप्रशस्त उपशम

कहते हैं। अनंतानुवंधी का प्रशस्त उपशम नहीं होता, अप्रशस्त ही होता है। मोह की अन्य प्रकृतियों का प्रशस्त उपशम होता है।

अनादि मिथ्यादृष्टि के अनंतानुवंधी चतुष्टय और मिथ्यात्व के दब जाने से जो उपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति बतलाई—उसका मतलब यह है कि उसके सम्यक्त्व-रोधक इन पांच प्रकृतियों की ही सत्ता है। लेकिन एक बार सम्यक्त्व हो जाने के बाद पुनः मिथ्यात्व में आ जाने पर जब फिर सम्यक्त्व होता है तब किसी के सात प्रकृतियों (अनंतानुवंधी चतुष्टय, मिथ्यात्व, सम्यङ् मिथ्यात्व और सम्यक्) की भी सत्ता होने के कारण उसे सात प्रकृतियों को दबाना पड़ता है। इसी बात को आगे के पद्य में स्पष्ट करते हैं:—

प्रथम-कषाय-चतुष्टय—
दर्शनमोहत्रस्य शमनाद् यत्।
उत्पद्यते तु सादि-
मिथ्यादृष्टेस्तु तत् प्रथमम् ॥९६॥
केषांचित् सादिमिथ्यात्व—
संयुक्तानां तु जायते।
पंचकर्मशमादित्थम्,
कथयन्ति मनीषिणः ॥९७॥

यस्य ह्यु द्वेलना जाता,
मिश्रसम्यक्त्वकर्मणोः ।
तस्य प्रकृतयः पञ्च,
संभवन्ति न चान्यथा ॥६८॥

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के समय मिथ्यात्व के जो तीन टुकड़े ( मिथ्यात्व सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति ) हुए थे उनकी जिनके उद्वेलना † नहीं हुई—उनके सात प्रकृतियों की सत्ता बनी हुई है। इस लिये इन सातों के दबने से ही उपशम सम्यक्त्व होगा। और जिनके उद्वेलना होकर तीनों प्रकृतियों की फिर एक प्रकृति हो गई है उन सादि मिथ्यादृष्टियों के पांच प्रकृतियों के उपशम से ही उपशम सम्यक्त्व होगा।

इस सब का सारांश यह है कि अनादि मिथ्यादृष्टि के तो उक्त पांच प्रकृतियों के दबने से ही उपशम सम्यक्त्व होता है और सादि मिथ्यात्वी के किसी के पांच के दबने से और किसी के सात प्रकृतियों के दबने से यह सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

अब सादि मिथ्यादृष्टि—जिसके सात प्रकृतियों के दबने से उपशम सम्यक्त्व होता है—की अपेक्षा उपशम सम्यक्त्व का लक्षण तथा उपशम सम्यक्त्व की स्थिति आदि का वर्णन करते हैं:—

---

† अन्य प्रकृति रूप परिणमन होना।

मिथ्यात्वाख्यगुणस्थाने,

करणत्रय-योगतः ।

सप्तकर्मोपशान्तेर्हि,

प्रथमोपशमदर्शनम् ॥६६॥

गुणस्थानाच्चतुर्थाद्धि,

सप्तमान्तं तद् भवेत् ।

अन्तर्मुहूर्तपर्यन्तं,

स्थित्वा 'नश्यति' तन्ननु ॥१००॥

मिथ्यात्व गुणस्थान में करणत्रय ( अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ) से जो सात कर्मों के दवाने से ( अनंतानुवंधी के अप्रशस्तोपशम और दर्शमोहनीय के प्रशस्तोपशम से जो जो सम्यक्त्व होता है वह प्रथमोपशम सम्यक्त्व है ।

यह प्रथमोपशम सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक रहता है । उपशम सम्यक्त्व की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र है ।

आगे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व का वर्णन करते हैं ।

अप्रमत्तगुणस्थाने,

क्षयोपशमदृष्टितः ।

श्रेणिसम्मुख-जीवानां,

द्वितीयोपशमं भवेत् ॥१०१॥

विसंयोजनमेवास्ति,
अत्राऽनन्तानुबंधिनाम् ।
ततो मोहत्रयस्यैवो ऽ-
पशान्तिरत्र कीर्तिता ॥१०२॥

सातवें † अप्रमत्त गुणस्थान में जब जीव उपशमश्रेणी ‡ चढ़ने के सम्मुख होता है तब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से यह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व होता है । इस द्वितीयोपशम सम्यक्त्व में अनंतानुबंधी का विसंयोजन ❀ ( अप्रत्याख्यानादि कषाय रूप परिणमन करना ) होता है । यहां भी करणत्रय द्वारा तीन ही प्रकृतियों ( मिथ्यात्व, सम्यक्-मिथ्यात्व और सम्यक्-प्रकृति) का उपशम किया जाता है क्योंकि यहां तीन ही प्रकृतियों की सत्ता पाई जाती है ।

प्रश्न—उपशम किसे कहते हैं ?

---

† सातवें गुणस्थान के दो भेद हैं—स्वस्थान अप्रमत्त और सातिशय अप्रमत्त । जो छठे और सातवें गुणस्थान में चक्कर लगाता रहे उसे 'स्वस्थान' और जो श्रेणी चढ़ने के सम्मुख हो उसे 'सातिशय अप्रमत्त' कहते हैं । यहां सातिशय अप्रमत्त ही लेना चाहिये ।

‡ जहां चारित्र मोहनीय की २१ अवशिष्ट प्रकृतियों का उपशम किया जावे उसे 'उपशम श्रेणी' कहते हैं ।

❀ कुछ आचार्य इस विसंयोजन के नियम को नहीं मानते ।

उत्तर—अनिवृत्तिकरणमें किये गये अन्तरकरण† विधानसे जो सम्यक्त्व के समय उदय आने योग्य निषेक थे उनको अन्य समय उदय आने योग्य बना देना और अनिवृत्तिकरण में ही किये गये उपशम विधान द्वारा जो उस समय आने योग्य नहीं थे वे उदीरणारूप‡ हो कर उस समय उदय न आ सकें—ऐसे बना देना ही उपशम कहलाता है। उपशम में सत्ता तो पाई जाती है पर उदय नहीं होता।

आगे यह बतलाते हैं कि यह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व किस गुणस्थान तक पाया जाता है:—

> एकादशगुणस्थान-
>
> पर्यन्तं तद्धि लभ्यते।
>
> आरभ्य सप्तमादित्थम्,
>
> कथयन्ति विचक्षणाः ॥१०३॥
>
> केषांचित्पततां ज्ञेयं,
>
> चतुः-पञ्चम-षष्ठके।

---

† भविष्य में उदय आने वाले कर्म परमाणुओं के क्रम को बदल देना अर्थात् आगे पीछे उदय आने योग्य कर देना अन्तरकरण विधान रूप उपशम कहलाता है।

‡ स्थिति बिना पूरी किये ही कर्मों के फल देने को उदीरणा कहते हैं।

गुणस्थाने ब्रुवन्तीत्थम् ,

शास्त्र-ज्ञान-विशारदाः ॥१०४॥

यह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व सातवें अप्रमत्तविरत गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें उपशांतमोह गुणस्थान तक पाया जाता है—ऐसा बुद्धिमान लोग कहते हैं। गिरते समय किसी किसी जीव के छठे, पांचवें और चौथे गुणस्थान में भी यह सम्यक्त्व पाया जाता है—ऐसा विद्वान लोग कहते हैं।

अब क्षायोपशम सम्यक्त्व का वर्णन करते हैं—

उपशमकाल-समाप्तौ,

क्षायोपशमिकं हि दर्शनं भवति।

सादेर्मिथ्यादृष्टेः,

मिश्रगुणस्थानतो वाऽपि ॥१०५॥

वेदकसम्यग्दृष्टिः,

शिथिल-श्रद्धो हि वृद्धयष्टिरिव वोढ्व्यः।

कुत्सित-हेतूदाहृति-

विनष्टसम्यक्त्व आशु स्यात् ॥१०६॥

उपशम सम्यक्त्व का काल समाप्त होने पर सम्यक् प्रकृति उदय आ जाने से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। यह सम्यक्त्व सादि मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व गुणस्थान से अथवा मिश्र गुणस्थान से भी हो सकता है।

इस सम्यक्त्व का धारण करने वाला वेदक सम्यग्-दृष्टि जीव वृद्ध पुरुष की लकड़ी के समान शिथिल श्रद्धानी होता है और इसी लिए खोटे हेतु और उदाहरणों के द्वारा शीघ्र ही इस जीव का सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है।

यह सम्यक्त्व चल, मल और अगाढ़ दोषों सहित है। अरहंत देवादि में 'यह मेरा है,' यह अन्य का है—इस प्रकार समझना, कहना चलपना है। शंकादि मलों का लगना 'मलिन-पना है'। शांतिनाथ शांति कर्ता है—इत्यादि भाव रहना 'अगाढ़-पना' है। किंतु यह इन दोषों के उदाहरण मात्र हैं। वास्तव में इस सम्यक्त्व में जो दोष लगता है उसे केवली ही जानते है।

आगे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का लक्षण करते हैं:—

सम्यक्-प्रकृतेरुदयात्,
उदयाभावाच्च वर्तमानानाम्।
पएणामवस्थितानां,
सत्तायां वेदकं ज्ञेयम् ॥१०७॥

सम्यक्प्रकृतेरुदयं,
व्यपेक्ष्य चैतद्धि वेदकं प्रोक्तम्।
षण्णां क्षयोपशमतः,
ज्ञेयं क्षायोपशमिकं हि ॥१०८॥

अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ और मिथ्यात्व तथा

सम्यङ्मिथ्यात्व के वर्तमान में उदय आने वाले सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदयाभावी क्षय (बिना फल दिये झड़ जाना) और आगामी उदय आने वाले इन्हीं स्पर्द्धकों का सदवस्थारूप उपशम तथा देशघाती सम्यक्प्रकृति के उदय से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। इस सम्यक्त्व के शास्त्रों में दो नाम मिलते हैं। एक वेदक और दूसरा क्षायोपशमिक। सम्यक्प्रकृति के उदय की प्रधानता से तो इसका नाम 'वेदक' है और अवशिष्ट छह प्रकृतियों के उदयाभावीक्षय और सदवस्थारूप उपशम की प्रधानता से 'क्षायोपशमिक' सम्यक्त्व कहलाता है।

शास्त्रों में इसका एक नाम 'कृतकृत्य सम्यग्दृष्टि' भी मिलता है। क्षायिक-सम्यग्दर्शन होते समय जब स्थितिकांडादि द्वारा सम्यक्प्रकृति की स्थिति घटते २ अंतर्मुहूर्त मात्र रह जाती है तब यह जीव 'कृतकृत्य सम्यक्दृष्टि' कहलाता है।

अब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति कितनी है और उसका कौनसा गुणस्थान है, यह बताते हैं :—

जघन्यान्तर्मुहूर्तं स्यात्,
उत्कृष्टा षष्टिसागरा।
स्थितिरस्य गुणस्थानं,
तुर्यतः सप्तमान्तगम् ॥१०६॥

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति कम से कम अंतर्मुहूर्त और ज्यादा से ज्यादा छियासठ सागर की है। यह सम्यक्त्व चौथे

गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक पाया जाता है।

क्षायोपशम सम्यक्त्व का वर्णन पूरा हुआ। अब आगे सम्यक्त्व के नौ भेदों का वर्णन करते हैं।

नवभेदान् खलु केचित्,
सम्यक्त्वस्यामनन्ति विद्वांसः।
क्षयजातं खलु चैकम्,
उपशमजातं पुनश्चैकम् ॥११०॥

क्षयोपशम-संजातं,
भेदत्रयमेव वेदकश्च स्यात्।
भेदचतुष्टय-युक्तं—
इत्थं भेदा नव प्रोक्ताः ॥१११॥

कुछ लोग सम्यक्त्व के नौ भेद मानते हैं और वे इस प्रकार हैं :— क्षायिक का एक भेद, उपशम का एक भेद, क्षायोपशमिक के तीन भेद और वेदक सम्यक्त्व के चार भेद।

क्षायिक और औपशमिक सम्यक्त्व का वर्णन तो पहले किया जा चुका है। अब क्षायोपशमिक के जो तीन भेद बतलाए हैं उनका वर्णन किया जाता है।

मोह--त्रयोपशान्तेः,
प्रथम-कषाय-क्षयाद्धि संजातम्।

प्रथमो भेदः प्रोक्तः,
क्षायोपशमिकस्य विद्वद्भिः ॥११२॥

सम्यक्मिश्रोभययो—
रुपशमतः क्षयाद्धि पंचानाम् ।
प्रोक्तो द्वितीय-भेदः
क्षायोपशमिकस्य विद्वद्भिः ॥११३॥

षण्णां क्षयतः सम्यक्—
प्रकृतेरुदयाद्धि संप्राप्तः ।
तृतीय--भेदः प्रोक्तः,
क्षायोपशमिकस्य विद्वद्भिः ॥११४॥

दर्शन मोहनीय की तीन प्रकतियों के उपशम से तथा अनंतानुवंधी क्रोध मान माया लोभ के क्षय से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का पहला भेद विद्वानों ने कहा है।

अनंतानुवंधी चतुष्टय और मिथ्यात्व, इन पाचों के क्षय तथा मिश्र (सम्यङ्‌मिथ्यात्व) और सम्यक्‌प्रकृति के उपशम से क्षायोपशमिक का दूसरा भेद विद्वानों ने वतलाया है।

अनंतानुवंधी चतुष्टय, मिथ्यात्व और मिश्र-इन छह के क्षय से और सम्यक्-प्रकृति के उपशम से क्षायोपशमिक का तीसरा भेद वताया गया है।

अब वेदक सम्यक्त्व के चार भेदों का वर्णन करते हैं :-

प्रथमकषाय-क्षयतः,

उपशमतो द्वयस्य, पुनरुदयात्।

सम्यक्-प्रकृतेः प्रथमः,

वेदकसम्यक्त्वभेदः स्यात् ॥११५॥

पंचप्रकृतिक्षयतः—

उपशमतो मिश्रमोहनीयस्य।

सम्यक्प्रकृतेरुदयात्,

वेदकभेदो द्वितीयः स्यात् ॥११६॥

षट्प्रकृतीनां क्षयतः,

सम्यक्प्रकृतेस्तु पुनरुदयात्।

वेदक-तृतीय-भेदः,

प्रोक्तः कैश्चित्तु विद्वद्भिः ॥११७॥

उपशमतो यत् षण्णां,

उदयात्सम्यक्त्वकर्मणो भवति।

वेदक-चतुर्थभेदः,

प्रोक्तो विद्वद्भिरिह कैश्चित् ॥११८॥

अनंतानुबंधी चतुष्टय के क्षय से, मिथ्यात्व और सम्यक्-

मिथ्यात्व के उपशम से तथा सम्यक्प्रकृति के उदय से वेदक सम्यक्त्व का पहला भेद होता है।

अनंतानुबंधी चतुष्टय और मिथ्यात्व के क्षय से; मिश्र मोहनीय (सम्यङ्‌मिथ्यात्व) के उपशम से तथा सम्यक्-प्रकति के उदय से वेदक सम्यक्त्व का दूसरा भेद होता है।

छह प्रकृतियों के क्षय और सम्यक्प्रकृति के उदय से वेदक सम्यक्त्व का तीसरा भेद किन्हीं विद्वानों ने बताया है।

छह प्रकृतियों के उपशम से तथा सम्यक्-प्रकृति के उदय से वेदक सम्यक्त्व का चौथा भेद होता है।

इस प्रकार सम्यक्त्व के नव भेद समझने चाहिये। अब आज्ञादि भेद से सम्यक्त्व के दश भेदों का वर्णन करते हैं :-

आज्ञा च मार्गश्च तथोपदेशः,
अर्थश्च बीजं च तथा च सूत्रम्।
संक्षेप-विस्तार-युगं यदेभि,
र्जातावगाढा परमावगाढा ॥११९॥

दशप्रकारा कथिता मुनीन्द्रैः,
दृष्टिर्हि भेदाः खलु चाष्टपूर्वे।
हेतुव्यपेक्षाः पुनरन्तिमौ द्वौ,
ज्ञानव्यपेक्षौ कथितौ तु बोद्धव्यम् ॥१२०॥

आज्ञा, मार्ग, उपदेश, अर्थ, बीज, सूत्र, संक्षेप, विस्तार, अवगाढ़ और परमावगाढ़ इस तरह सम्यक्त्व के दश भेद भी होते हैं। इनमें प्रारम्भ के आज्ञादि आठ भेद तो हेतु की अपेक्षा से और अन्त के दो भेद अवगाढ़ और परमावगाढ़ ज्ञान की अपेक्षा से हैं।

आगे इनका अलग २ लक्षण कहते हैं। सर्व प्रथम आज्ञा सम्यक्त्व का वर्णन करते हैं:—

प्रमाणं वीतराज्ञा,
इति कृत्वा यदुद्भवेत्।
आज्ञा-सम्यक्त्वमेतद्धि,
कथ्यते मुनिनायकैः ॥१२१॥

वीतराग सर्वज्ञ कभी अन्यथावादी नहीं होते। उन्हों ने जो कुछ कहा है वह ठीक है। ऐसे दृढ़ निश्चय से जो सम्यक्त्व होता है उसे 'आज्ञा सम्यक्त्व' कहते हैं।

जिनेन्द्र भगवान ने दो तरह के तत्वों का वर्णन किया है प्रत्यक्ष और परोक्ष। ये दोनों भी प्रयोजन-भूत और अप्रयोजन-भूत के भेद से दो प्रकार के हैं। इनमें जो जीवादि सातों तत्व प्रयोजन भूत हैं उनके सम्वन्ध में तो मनुष्य को परीक्षा प्रधानी ही होना चाहिये। क्योंकि परीक्षा प्रधानी हुए बिना श्रद्धा में दृढ़ता नहीं आती। अप्रयोजनभूत तत्वों की परीक्षा न हो तो भी आत्मा

की कोई हानि नहीं होती। इस लिए ऐसे प्रत्यक्ष व परोक्ष पदार्थों के सम्बन्ध में आज्ञा प्रधानी होना ही ज्यादा अच्छा है। भगवान के आगम में जो भी कुछ कहा है वह ठीक है—इस तरह उनकी आज्ञा को प्रमाण करने से जो श्रद्धा उत्पन्न होती है वह आज्ञा-सम्यक्त्व कहलाता है। पर आज्ञा-सम्यक्त्व का मतलब भगवान की आज्ञा मानना ही नहीं है; किन्तु उस आज्ञा से जो तत्व प्रतीति होती है वह सम्यक्त्व है।

आगे के एक पद्य में मार्ग-सम्यक्त्व और उपदेश-सम्यक्त्व का लक्षण कहते हैं:—

> निर्ग्रन्थ-मार्गस्य विलोकनेन,
> जाता हि दृष्टिः खलु मार्गदृष्टिः।
> यदुद्भवेत् तीर्थकृदादिवृत्तो-
> पदेशतस्तद्ध्युपदेशदृष्टिः ॥१२२॥

चौदह प्रकार के अन्तरंग (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया और लोभ) और दश प्रकार के बहिरंग (क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य और भाण्ड) परिग्रहों से रहित महर्षियों को निर्ग्रन्थ कहते हैं। उन का आचरण ही निर्ग्रन्थ-मार्ग कहलाता है। वे पवित्रता की मूर्ति हैं। वे साक्षात् सम्यक्त्व हैं। उन्हें भक्ति पूर्वक अवलोकन

करने से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह 'मार्ग-सम्यक्त्व' है।

अन्तरंग और वहिरंग दोनों ही तरह के परिग्रह आत्मा का पतन करने वाले हैं। इनके रहते हुए कोई आत्मा ऊंचा नहीं उठ सकता। इस लिए स्वपर के उत्थान में परिग्रही जीवों के जीवन से कोई मदद नहीं मिल सकती। किन्तु जिन्होंने इन दोनों परिग्रहों को छोड़ दिया है, उनके दर्शनमात्र से ही जीवों का कल्याण होना सम्भव है। इसी लिए निर्ग्रन्थ मार्ग के अवलोकन को सम्यक्त्व उत्पन्न होने का कारण वतलाया है।

तीर्थङ्कर आदि महापुरुषों के पवित्र चरित्र सुनने से जो सम्यक्त्व होता है वह 'उपदेशदृष्टि' है।

महापुरुषों के जीवन चरित्रों का मनुष्य पर विलक्षण प्रभाव पड़ता है। वह पतन की ओर से हटकर उत्थान की ओर अग्रसर हो जाता है। वह अपने जीवन में उनके जीवन को उतारना चाहता है। इसी लिये प्रथमानुयोग के पुराण चारित्र आदि ग्रन्थों के अध्ययन करने का आचार्यों ने उपदेश दिया है। और उनके निर्माण का भी यही उद्देश्य है कि यह मनुष्य बुराइयों को छोड़ कर भलाइयों की ओर ऋजु हो। अमुक महापुरुष ने किस तरह आत्मत्व प्राप्र कर अपने जीवन को सफल वनाया—यह जान कर कोई भी मुमुक्षु भेदविज्ञानी वन सकता है। इस तरह तीर्थ-करादि महापुरुषों के चरित्रोपदेश से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है—उसे 'उपदेश-सम्यक्त्व' कहते हैं।

आगे सूत्र-दृष्टि का वर्णन करते हैं:—

आचार-सूत्रं विनिशम्य साधो—
राचारमार्गं प्रतिपादकं या ।
दृष्टिः समुद्भूतिमुपैति लोके,
सा सूत्रदृष्टिर्गदिता मुनीशैः ॥१२३॥

मुनियों के आचरण का सांगोपांग वर्णन करने वाले आचारांग सूत्र को अथवा मूलाचारादि आचार-प्रतिपादक ग्रन्थों को सुनने या अध्ययन करने से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है आचार्यों ने उसे 'सूत्र-सम्यक्त्व' कहा है।

किस प्रकार चलना चाहिये ? किस प्रकार खड़े रहना चाहिये ? किस प्रकार बैठना चाहिये ? किस प्रकार शयन करना चाहिये ? किस प्रकार भोजन करना चाहिए ? किस प्रकार भाषण करना चाहिये और किस प्रकार आचरण करने से पाप कर्म नहीं बंधता है ? ऐसे प्रश्न होने पर उनके अनुसार यह कहा जाय कि यत्न से चलना चाहिये, यत्न से खड़े रहना चाहिये, यत्न से बैठना चाहिये, यत्न से शयन करना चाहिये, यत्न से भोजन करना चाहिये, यत्न से भाषण करना चाहिये, इस प्रकार आचरण करने से पाप कर्म का बन्ध नहीं होता है। इत्यादि रूप से आचारांग सूत्र में मुनियों के आचरण का वर्णन है। इसके सुनने से मुनि-जीवन की महत्ता हृदय पर अङ्कित होती है। मुनि भेद-विज्ञान के मूर्तिमान आकार हैं। अतः इनके महान जीवन-क्रम को सुन कर भेद विज्ञान हो जाना सम्भव

है। यही आपापर भेदविज्ञान 'सूत्र-सम्यक्त्व' कहलाता है।

आगे बीजज सम्यक्त्व का लक्षण कहते हैं:—

सकल-समय-दल-सूचन-व्याजं बीजं हि कथ्यते शास्त्रे,
तस्माज्जातं बीजज-सम्यक्त्वं प्रोच्यते मुनिभिः ।१२४।

बीजं हि गणितज्ञान-कारणं वाऽपि कथ्यते ।
तस्माद् यो मोहानुदयः बीजजा दृष्टिरुच्यते ॥१२५॥

सम्पूर्ण सिद्धान्तों के विभिन्न सारांशों को 'बीज' कहते हैं। बीज सिद्धान्त के सूचक होते हैं। जैसे मंत्रों में बीजाक्षर होते हैं और वे ही सम्पूर्ण मंत्रों की सूचना कर देते हैं वैसे ही सिद्धान्तों के भी विभिन्न सूचक होते हैं। उदाहरणार्थ जैन-सिद्धान्त का सूचक 'स्याद्वाद' है, सांख्य-सिद्धान्त का सूचक 'सत्कार्यवाद' है। ये सूचक ही इन दो सिद्धान्तों के बीज हैं। इसी लिये 'पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय' में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने स्याद्वाद को 'परमागम का बीज' कहा है। ऐसे बीज ज्ञान के निमित्त से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह 'बीजज सम्यक्त्व' कहलाता है।

अथवा बीज का मतलब है गणितज्ञान का कारण। प्रखर गणितज्ञान से जो मोहनीय कर्म का उपशमादि होता है उसे बीजज-सम्यक्त्व कहते हैं।

रेखा, अंक और बीज के भेद से तीन प्रकार का गणित है। यहां बीज शब्द उपलक्षण है। उससे तीनों ही प्रकार के

गणित लेने चाहिये। गणित के अध्ययन से मन एकाग्र हो जाता है, मन में एकस्थ होने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इसी लिये गणितज्ञ अच्छे विचारक होते हैं। मन को एकाग्र करने के जो साधन हैं वे ही सम्यक्त्व के साधन भी हो सकते हैं। जब गणित के द्वारा होने वाली मन की एकाग्रता से सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाय तब उसे 'बीजज-सम्यक्त्व' कहते हैं।

जैनाचार्यों ने द्रव्यों का छोटा और बड़ापन, उनके गुणों की तीव्रता और मंदता एवं काल द्रव्य के परिमाण वगैरह का वर्णन गणित के द्वारा ही किया है। पर यह गणित लौकिक-गणित नहीं, किंतु अलौकिक गणित है। गणित का ऐसा वर्णन संसार के किसी भी साहित्य में नहीं मिलता। इस अलौकिक गणित का स्वरूप लौकिक-गणित से बहुत कुछ विलक्षण है। लौकिक-गणित से स्थूल पदार्थों का माप किया जाता है, पर अलौकिक-गणित से सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अनन्त पदार्थों की हीनाधिकता का ज्ञान होता है।

इस अलौकिक-गणित के मुख्य भेद दो हैं—संख्यामान और उपमानमान। संख्यामान के मुख्य भेद तीन हैं:—संख्यात असंख्यात और अनन्त। असंख्यात के तीन भेद हैं:—परीतासंख्यात युक्तासंख्यात और असंख्यातासंख्यात। अनंत के भी इसी तरह तीन भेद हैं—परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त और संख्यात का एक भेद; इस तरह सब मिलाकर सात भेद हुए।

इन सातों के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से २१ भेद संख्यामान के होते हैं ।

उपमानमान आठ प्रकार का होता है—१ पल्य २ सागर ३ सूच्यंगुल ४ प्रतरांगुल ५ घनांगुल ६ जगत् श्रेणी ७ जगत्प्रतर और ८ लोक ।

हमने यहां केवल सूचनार्थ अलौकिक गणित के भेदों के नाम मात्र गिनाये हैं । इनका स्वरूप गोम्मटसार की टीकाओं में पूर्ण विस्तार के साथ लिखा है, वहां से देखना चाहिये । ऐसा आश्चर्यकारक गणित का वर्णन केवल यहां ही मिलता है । इसके पठन पाठन विचार आदि से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह बीजज-सम्यक्त्व है ।

आगे संक्षेप सम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं :—

व्रताऽऽप्तश्रुत-तत्वानां,
संक्षेपालापतो हि यत् ।
जायते तद्धि संक्षेपात्,
जातं सम्यक्त्वमुच्यते ॥१२६॥

देवशास्त्रगुरु और पदार्थों के संक्षेपज्ञान से जो श्रद्धान होता है उसे 'संक्षेप-सम्यक्त्व' कहते हैं ।

पद्य में जो व्रत शब्द दिया गया है वह उपचार से व्रती अर्थात् गुरु का वाचक है । इसी लिए व्रत का अर्थ गुरु किया गया है । इन सब के विस्तार-पूर्वक ज्ञान से नहीं किंतु संक्षेपज्ञान

से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह 'संक्षेप सम्यक्त्व' है।

प्रश्न :—तत्व शब्द से देव, शास्त्र और गुरु का संग्रह हो जाने पर भी उनको पद्य में अलग क्यों कहा ?

उत्तर—सम्यक्त्व की उत्पत्ति में देव, शास्त्र और गुरु का वास्तविक ज्ञान सहकारी कारण है। इसी लिये तत्व शब्द से इन तीनों का संग्रह हो जाने पर भी इनको पृथक् नाम से कहा है। इनकी इस सहकारिता के कारण ही इन तीनों का श्रद्धान भी जैन-शास्त्रों में सम्यक्त्व कह दिया गया है।

पदार्थों का ज्ञान संक्षेप और विस्तार दोनों ही प्रकार से होता है। कई जीव संक्षेप-ज्ञान से ही उतना प्रयोजन निकाल लेते हैं जितना विस्तार-ज्ञान से निकलता है। ऐसी बात नहीं है कि केवल विस्तृत ज्ञान ही वास्तविक प्रयोजन को सिद्ध करता है। योग्य व्यक्ति संक्षेप-ज्ञान से भी अंतिम निष्कर्ष निकाल लेता है। "तुसमासं घोसंतो सिवभूदी केवली जादो"—अर्थात् जिस प्रकार उड़द अपने छिलके से अलग है उसी प्रकार शरीर आत्मा से भिन्न है, इस तरह विचार करता हुआ शिवभूति केवली हो गया। द्वादशांग के विस्तृत ज्ञानका फल जो आत्मविवेक है वह शिवभूति को कितने संक्षिप्तज्ञान के द्वारा मिल गया। वास्तव में यथार्थ अर्थात् प्रयोजनभूत ज्ञान ही उपयोगी है फिर चाहे वह संक्षिप्त हो या विस्तृत। दोनों ज्ञानों का उपयोग तो एक है। अगर वास्तविक फल का साधक न हो तब तो विस्तृत-ज्ञान भी व्यर्थ ही है।

आगे विस्तार-सम्यक्त्व का स्वरूप बताते हैं :—

वाङ्मयं द्वादशांगं हि,
श्रुत्वा यच्चोपपद्यते ।
विस्तार-दर्शनं तद्धि,
प्रोच्यते मुनि-पुङ्गवैः ॥१२७॥

द्वादशांग—चौदह पूर्व और प्रकीर्णकों के सुनने से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उसे आचार्य "विस्तार-सम्यग्दर्शन" कहते हैं।

प्रश्न—द्वादशांग के जानने वाले का सम्यक्त्व तो, 'अवगाढ़-सम्यक्त्व' कहलाता है। फिर यहां उसे विस्तार-सम्यक्त्व कैसे कहा ?

उत्तर—जिसको द्वादशांग का ज्ञान है वह तो सम्यग्दृष्टि है ही। क्योंकि सम्यक्त्व के बिना द्वादशांग का ज्ञान नहीं होता। इस लिये द्वादशांग के ज्ञाता का सम्यक्त्व विस्तार-सम्यक्त्व नहीं है क्योंकि उसे तो आगे अवगाढ़ सम्यक्त्व कहने वाले हैं। विस्तार सम्यक्त्व तो उसे कहते हैं जो द्वादशांग के ज्ञाता से द्वादशांग सुनने से होता है। द्वादशांग का सुनने वाला द्वादशांग का ज्ञाता हो, ऐसी बात नहीं।

आगे अर्थ-सम्यक्त्व का लक्षण कहते हैं :—

अर्थस्य कस्यापि निमित्तमेव,
संप्राप्य यज्जैनवचोन्तरेण ।

प्राप्नोति तद्दर्शनमर्थजातं—

वदन्ति विज्ञानघना मुनीशाः ॥१२८॥

आगम-वाक्य के विना किसी भी पदार्थ का निमित्त पाकर जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उसे आचार्य 'अर्थ सम्यक्त्व' कहते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि शिवभूति मुनि 'तुपमाप' को घोखते हुए केवली होगए। यद्यपि 'तुपमाप' कोई आगमवाक्य नहीं है फिर भी इसके द्वारा उन्हें आत्म-ज्ञान हो गया। उड़द की दाल एक प्रकार का पदार्थ है। उसे देख कर जो उन्हें आत्म-विवेक हुआ उसे 'अर्थ सम्यक्त्व' कह सकते हैं। वादल वगैरह क्षणभंगुर पदार्थों को देख कर भी आत्मज्ञान वहुतों को हुआ है। वास्तव में संसार का प्रत्येक-पदार्थ हमारे गहरे विचार का विपय वन कर सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण वन सकता है। इसका मतलव यह है कि सम्यक्त्व उत्पन्न होने के लिये आगम वाक्य ही अपेक्षित नहीं है। किसी भी पदार्थ के वास्तविक-ज्ञान से वह उत्पन्न हो सकता है। इसी लिये विद्वानों ने कहा है कि एक भी पदार्थ को जिसने पूरा जान लिया उसने सव कुछ जान लिया।

प्रश्न—अगर कोई भी पदार्थ सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण हो सकता है तव तो पत्थर वगैरह को भी उसकी उत्पत्ति का कारण मान लेना चाहिये।

उत्तर—अगर पत्थर का निमित्त पाकर किसी को भेद-

विज्ञान, आत्म-विवेक हो जाय तो उसे भी सम्यक्त्व का कारण माना जा सकता है। कहने का मतलब यह नहीं है कि प्रत्येक पदार्थ सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण होता ही है। अगर कोई पदार्थ कारण हो सके तो वह सम्यक्त्व अर्थ-सम्यक्त्व कहलावेगा।

आगे अवगाढ़ और परमावगाढ़ सम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं :—

**श्रुतकेवलिनो या हि दृष्टिः सा प्रोच्यतेऽत्रमुनिनाथैः।**
**अवगाढ़ा परमावगाढ़ा वा केवलीशानाम् ।१२९। आर्या**

ऋषियों ने श्रुतकेवलियों के जो सम्यक्त्व होता है उसे 'अवगाढ़-सम्यक्त्व' और केवलियोंके सम्यग्दर्शन को 'परमावगाढ़ सम्यक्त्व' कहा है।

प्रश्न—क्या श्रुतकेवली और केवलियों के सम्यक्त्व में कोई वास्तविक भेद है?

उत्तर—उनके सम्यक्त्व में कोई भेद नहीं है। दोनों ही क्षायिक-सम्यग्दृष्टि हैं। क्षायिक-सम्यक्त्व में कोई भेद नहीं होता सम्यक्त्व की अपेक्षा से तो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती क्षायिक-सम्यग्दृष्टि और केवली समान ही हैं। और तो क्या संसारी और सिद्धों के क्षायिक-सम्यक्त्व में भी कोई भेद नहीं है। अवगाढ़ और परमावगाढ़ का भेद तो केवल ज्ञानकी अपेक्षा से है—यह पहले ही कहा जा चुका है

आगे सम्यग्दृष्टि के आठ गुणों का वर्णन करते हैं :—

संवेगो निर्वेदो निन्दा गर्हा च भक्तिरुपशांतिः।
वात्सल्यं जीवदया चाष्टगुणाः संति सम्यक्त्वे।१३०।

संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, भक्ति, उपशम, वात्सल्य और जीव दया ये सम्यक्त्व के आठ गुण हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि-जीव में ये गुण अवश्य होते हैं।

संसार अथवा संसार के कारण पाप से डरने को 'संवेग' कहते हैं। संसार देह और भोग से विरक्त होना 'निर्वेद' कहलाता है। अपने पापों की अपने मन में स्वयं ही निन्दा करना 'निन्दा' है। अपने पापों की प्रकटरूप से निन्दा करना 'गर्हा' है। कषायों के दबने को 'उपशम' कहते हैं। अरहंतादि पूज्य व्यक्तियों में अनुराग रखना 'भक्ति' है। धर्मात्माओं में निष्कपट प्रेम रखना 'वात्सल्य' है। प्राणी मात्र की दया पालन करना 'जीवदया' है।

प्रश्न—निःशंकित आदि सम्यक्त्व के आठ गुण पहले कह आये हैं। उनमें और इन गुणों में क्या भेद है?

उत्तर—वे सम्यक्त्व के गुण नहीं किन्तु अंग हैं। सम्यक्त्व के उत्पन्न हो जाने के बाद आत्मा में ये गुण प्रकट हो जाते हैं और ये आत्मा को चारित्र की ओर ले जाने वाले हैं। इन गुणों का सम्यक्त्व के साथ वैसा अविनाभाव नहीं है जैसा अंगों का होता है।

प्रश्न—निन्दा और गर्हा में श्रेष्ठ कौन है?

उत्तर—निन्दा की अपेक्षा गर्हा का दर्जा ऊंचा है क्योंकि

दूसरों के सामने अपने पापों को प्रकट करने में अधिक आत्म-वल की जरूरत है।

अव यह वताते हैं कि पच्चीस मल दोप रहित सम्यक्त्व ही पूजनीय है।

पंचविंशति-दोपा हि,
सम्यक्त्वस्य मनीपिभिः।
प्रोक्तास्तद्रहिता दृष्टिः,
संपूज्या समुपासकैः ॥१३१॥

पच्चीस मल दोप रहित सम्यक्त्व ही विद्वानों के द्वारा पूजा करने योग्य वतलाया है। क्योंकि जव तक इसमें एक भी दोप रहता है तव तक सम्यक्त्व में पूरी निर्मलता नहीं आती। इस लिये इन दोपों को नष्ट करने की कोशिश करते रहना चाहिये।

आगे उक्त पच्चीस दोपों के नामों को गिनाते हैं:—

महामदाश्चाष्टमलानि चाष्टौ,
विमूढतानां त्रितयं तथा वा।
षट्कं तथाऽनायतनस्य सर्वे,
दोषा हि पंचाधिकविंशतिः स्युः ॥१३२॥

कुल, जाति, रूप, ज्ञान, धन, वल, तप और प्रभुता ये

आठ मद, शङ्कादि आठ मल, तीन मूढ़ताएं और कुगुरु, कुदेव, कुधर्म तथा इन तीनों के सेवक इस तरह छह अनायतन—कुल मिला कर ये सम्यक्त्व के पच्चीस दोष होते हैं।

किसी वस्तु का घमण्ड करना मद कहलाता है। जिस कुल में मनुष्य उत्पन्न हुआ है उस कुल (पिता पक्ष) का गर्व करना कि मेरा कुल सबसे अच्छा है, मैं उच्च कुल में पैदा हुआ हूं, कोई मेरी बराबरी नहीं कर सकता आदि विचार 'कुल मद' के द्योतक हैं। इसी तरह जिस जाति (मातृ पक्ष) में उत्पन्न हुआ हो उस जाति का गर्व करना, अपने को उच्च जाति का मान कर औरों को घृणित दृष्टि से देखना जातिमद कहलाता है। इसी तरह रूप, ज्ञान, धन, शक्ति, तपस्या और प्रभुता का मद भी होता है। परन्तु सम्यग्दृष्टि के ये मद तनिक भी नज़दीक नहीं फटकते। वह अपने कुल आदि का घमण्ड नहीं करता।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग पहले बताये जा चुके हैं। उन से ठीक उलटे शङ्कादि आठ दोष समझने चाहिये। देव-मूढ़ता, गुरुमूढ़ता और लोकमूढ़ता इन तीन मूढ़ताओं का स्वरूप पहले वर्णन किया जा चुका है। कुदेव, कुगुरु कुशास्त्र तथा इन तीनों के मानने वाले छह अनायतन कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टि न इनको मानता है और न इनकी प्रशंसा करता है।

इस तरह उक्त पच्चीस दोष सम्यग्दृष्टि के नहीं होते।

आत्मा में धर्म का अंकुर सम्यक्त्व से ही उगता है इस कारण सम्यग्दर्शन सब से अधिक महत्वशाली भाव है।

सम्यक्त्व के विना ज्ञान चारित्र आत्मा का कल्याण नहीं कर पाते। इसी कारण आत्मा का सब से अधिक हितकर सम्यग्दर्शन है और सब से बड़ा शत्रु मिथ्यात्व है।

इति 'भावनाविवेक' ग्रंथ में दर्शन विशुद्धि भावना
का वर्णन समाप्त हुआ।
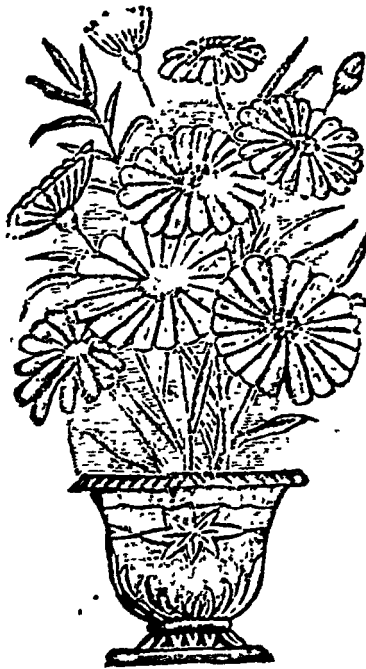
अब विनय-सम्पन्नता नाम की भावना का वर्णन करते हैं:—

विनम्रता स्याद् विनयो हि तेन,
सम्पन्न उक्तः सहितस्तु जीवः ।
भावस्तु तस्याऽत्र निगद्यते सा,
सम्पन्नतैवं विनयेन युक्ता ॥१३३॥

विनय 'नम्रता' को कहते हैं । नम्रता-युक्त जीव विनय-सम्पन्न है। और उसके भाव को 'विनयसम्पन्नता' कहते हैं ।

आगे के पद्य में विनय-सम्पन्नता का स्वरूप और उसकी उत्पत्ति का कारण समझाते हुये उसके भेद बताते हैं:—

रत्नत्रये तद्वति योह्यनुग्रहोऽ-
थवा कषायेन्द्रियरोधनं वा ।
प्रवृत्तिरुक्तो विहितेऽथ कर्मणि,
चतुः प्रकारो विनयो महर्षिभिः ॥१३४॥

रत्नत्रय अथवा रत्नत्रय-धारियों का यथोचित उपकार करना, उनका सत्कार करना, सेवा-सुश्रूषा करना, उन पर आये

हुये विघ्नों को दूर करना और इन्द्रियों का निरोध करना, रोकना, उन्हें अपने वश में करना और विहित, शास्त्रानुकूल कर्म में प्रवृत्ति करना यह 'विनय' है। इस विनय के चार भेद हैं।

"विनीतेर्विनयः" अर्थात् शास्त्र-विहित कार्यों में प्रवृत्ति करने से अथवा क्रोधादि कषाय और स्पर्शनादि इन्द्रियों का सर्वथा निरोध करने से विनय की उत्पत्ति होती है। अथवा रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र और उसके धारण करने वाले तथा उनपर अनुग्रह करने वालों का यथोचित उपकार करना भी विनय समझना चाहिये।

सद्गुण की प्राप्ति के लिये सद्गुण से, उसके धारकों से तथा उसके पुष्टपोषकों से भी प्रेम करना आवश्यक है। इसी लिये यहां रत्नत्रय, उसके धारक तथा पुष्टपोषकों का आदर-सत्कार भी जरूरी बताया गया है। कषाय और इन्द्रियों को जीते विना आत्मा शुद्ध नहीं होता, उसमें विनय आता ही नहीं। इस लिये विनय की उत्पत्ति के लिये कषायों को जीतना और इन्द्रियों को वश में करना भी आवश्यक बताया गया है। विनय मन की उज्वलता का कारण है, शुद्धि का मुख्य साधक है। इस लिये राग, द्वेष आदि के द्वारा जिस प्रकार आत्मा का घात न होवे उस प्रकार प्रवृत्ति करना यही विनय-सम्पन्नता का मर्म समझना चाहिये। शास्त्र-विहित कार्यों को करने से भी आत्मा विनम्र बनता है और बना रहता है इस लिये उसे भी विनय कहा गया है।

विनय के भेदों का वर्णन आगे किया जायगा । 'विनय' शब्द का निरुक्त्यर्थ और उसका फल—

**विनयत्यात्तं कर्म, असदिह यो, सोऽस्ति सर्व गुणभूषा ।**
**निखिलक्षेमफलश्च, ज्ञानफलं विनय इत्याहुः ॥१३५॥**

जो ग्रहण किये हुये अप्रशस्त ( बुरे ) कर्मों को दूर करता है उसे विनय कहते हैं । यह विनय सब गुणों की शोभा को बढ़ाने वाला है । जितने भी लौकिक और पारलौकिक कल्याण हैं वे सब इसी के फल रूप में प्राप्त होते हैं इसी लिये यह उपासनीय है और यह ज्ञान का फल है ज्ञान की प्राप्ति होने से उत्पन्न होता है जिनेन्द्र भगवान् के वचनों का ज्ञान और जैनागम की शिक्षा और अभ्यास का यही फल मिलता है ।

"विनयतीति विनयः" इस निरुक्ति के अनुसार विनय शब्द के दो अर्थ होते हैं । एक तो विनयति अपनयति अर्थात् 'जो दूर करता है' उसे विनय कहते हैं और एक विनयति= विशेषण नयति अर्थात् 'विशेष रूप से प्राप्त कराता है' उसे विनय कहते हैं । 'जहां दूर करता है' यह मतलब है वहां समझना चाहिये कि जो अप्रशस्त ( बुरे ) कर्मों को दूर करता है उसे विनय कहते हैं । और जहां 'विशेष रूप से प्राप्त कराता है' यह मतलब है वहां समझना चाहिये कि जो स्वर्ग मोक्षादिक विशिष्ट अभ्युदयों को प्राप्त कराता है उसे विनय कहते हैं ।

विनय क्या काम करता है और उसकी आराधना क्यों करनी चाहिये:—

विनयो मदमाहन्ति, विनयेनाप्ता भवन्ति सर्वगुणाः ।
विनयः शिक्षासारं, ततः समाराध्य इह विनयः ॥१३६॥

विनय से मद नष्ट हो जाता है। विनय से सर्व प्रकार के गुण प्राप्त हो जाते हैं। विनय शिक्षा का सार है और इसी लिये विनय की उपासना करनी चाहिये।

विनयशील में नम्रता रहती है और मद वाले में उद्धतता। नम्रता के आगे उद्धतता नहीं टिकती। विनय के प्रकट होते ही मद दूर हो जाता है. अभिमान का नशा उतर जाता है या यों कहना चाहिये कि मद को दूर करके ही विनय प्रकट होता है।

जितने भी गुण हैं वे सब विनय से ही प्राप्त होते हैं। लोटा अपने शिर को नीचा करके ही पानी को भर लेता है, यदि वह अपने को न झुकावे तो पानी नहीं प्राप्त कर सकता है। मनुष्य भी जितना ही विनम्र बनता है, राग-द्वेष आदि कषायों को दूर करता है और इन्द्रियों को अपने वश में करके सद्गुणों की उपासना करता है त्यों ही वे गुण उसे प्राप्त होने लगते हैं।

विनय शिक्षा का सार है। बहुत कुछ शिक्षा प्राप्त करके भी यदि विनय को प्राप्त नहीं किया तो कुछ नहीं। विनय से ही शिक्षा की शोभा और प्रशंसा है। जैनागम की शिक्षा का महत्व तो विनय की प्राप्ति के लिये ही बताया गया है। पण्डित-प्रवर आशाधर जी ने लिखा है:—

"सारं सुमानुषत्वेऽर्हद्रूपसंपदिहार्हती।

शिक्षायां विनयः सम्यगस्मिन् काम्याः सतां गुणाः ॥"

आर्यता कुलीनता आदि उत्तम गुण सहित इस मनुष्य जन्म में अर्हद्रूपसंपत्ति अर्थात् आचेलक्यादि रूप जिनलिंग का धारण करना ही सार उपादेय है। निर्ग्रन्थ को धारण करना ही उत्तम मनुष्य पर्याय का इष्ट फल समझना चाहिये। और इस जिनलिङ्ग धारण करने का भी सार आर्हती जिनागम क शिक्षा को समझना चाहिये। कोई भी जिनागम की शिक्षा को प्राप्त करके ही जिनलिङ्ग धारण करने के उद्देश्य को सिद्ध कर सकता है। इस जिनागम की शिक्षा भी सार सम्यक् विनय है। क्यों कि इस विनय के होने पर ही सज्जनों के लिये भी स्पृहणीय समाधि आदि गुण प्रकट होते हैं।

इससे विनय का महत्व स्पष्ट है। जिस किसी प्रकार हो उसको धारण करने का प्रयत्न करना चाहिये।

**अविनीतस्य हि शिक्षा, फलं प्रसूते न मंगदं लोके।**
**आत्मविडम्बनमेतत् लिंगं खलु विनयहीनस्य ॥१३७॥**

जो विनय-हीन है उस मनुष्य की शिक्षा कोई मंगलप्रद फल को प्रकट नहीं करती। विनयहीन मनुष्य के लिये जिन-लिङ्ग को धारण करना भी एक अपनी आत्मा की विडम्बना मात्र है।

जो विनम्र है उसी पुरुष को दी गई शिक्षा मंगलप्रद फल को उत्पन्न करेगी। अविनीत को दी गई शिक्षा कल्याणकारी फल को पैदा नहीं कर सकती। वह या तो निष्फल सिद्ध होगी या

अनिष्ट फल को उत्पन्न करेगी। जिस प्रकार दुष्ट पुरुष की मित्रता से कभी अच्छा फल नहीं मिलता उसी प्रकार उससे भी उत्तम फल की आशा करना व्यर्थ है।

विनयहीन मनुष्य यदि जिनलिङ्ग को धारण करे तो भी वह उससे कुछ अभीष्ट सिद्धि नहीं कर सकता। वह तो उसके लिये एक आत्म-विडम्बना व उपहास की वस्तु ही होगी। जिस प्रकार नाचने की शिक्षा को बिना प्राप्त किये यदि कोई नाचने लगे तो उसकी हंसी हुये बिना नहीं रहती वैसे ही जिसने जिनागम की शिक्षा और उसके फल विनय को प्राप्त नहीं किया उसका मनुष्य जन्म धारण करना निष्फल है और जिनलिङ्ग को धारण करना विडम्बना मात्र है।

विनय के भेदः—

विनयः शास्त्रेऽवाचि चतुर्विधः पंचधापि तपसः स्यात्।
विनयो विमुक्तिमूलं विनयात्संसार-बन्धनोच्छेदः ॥१२८॥

तत्वार्थ सूत्र आदि शास्त्रों में विनय के चार भेद किये गये हैं—दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय और उपचार विनय। आचार ग्रन्थों में उक्त चार भेदों के साथ एक 'तप विनय' को और लगा कर विनय के पांच भेद कर दिये गये हैं। यह विनय मोक्ष का मूल है। इसी से संसार बन्धन का या संसार बन्धन के कारण भूत कर्मों का समूल उच्छेद नाश होता है।

दर्शन का स्वरूपः—

शङ्कादिदोष-शोषः तथापगूहादि-विधियुक्तिः।
भक्त्यर्चावर्णादिः दर्शनविनयो जिनादौ स्यात् ॥१३६॥

शङ्का आदि दोषों को दूर करना, उपगूहन आदि गुणों से उसे युक्त करना, जिनेन्द्र आदि की भक्ति, अर्चा, वर्णा आदि करना दर्शन विनय कहलाता है।

शङ्का, काङ्क्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा और अनायतन सेवा ये सम्यक् दर्शन के मल या दोष हैं। और उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये गुण हैं। जिनेन्द्र के अनेकान्तात्मक शासन के सम्बन्ध में किसी प्रकार की शङ्का न करने से, किसी सांसारिक विभूति को न चाहने से, मलिन वस्तु को देख कर, दुःखकारी क्षेत्र कालादि देख कर या अशुभ कर्मोदय देख कर ग्लानि न करने से, मिथ्या दृष्टि के तप, ज्ञान, विद्या, क्रिया की मन-वचन से प्रशंसा न करने से, मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र और इनके धारण करने वालों का, जो कि धर्म के आयतन अर्थात स्थान नहीं हैं, कभी सेवन न करने से दर्शन के दोष दूर हो जाते हैं और पवित्र जैनमार्ग में अज्ञानी अथवा असमर्थ लोगों के आश्रय से उत्पन्न हुई निन्दा को दूर करने से, समीचीन दर्शन, चारित्र या धर्म से किसी कारण विचलित होते हुये पुरुषों को उपदेश देकर पुनः स्थित करने से, सधर्मी जनों से निष्कपट प्रेम करने से, जैन मार्ग की सत्यता प्रकट कर संसार को प्रभावित करने से गुण प्रकट होते हैं। उक्त

प्रकार से दोषों को दूर कर गुणों से युक्त करना तथा अर्हंत, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय आदि की भक्ति, अर्चा, वर्णना आदि करना दर्शन-विनय है। यही कहा भी है:—

अर्हति सिद्धे चैत्ये श्रुते च धर्मे च साधुवर्गे च।
आचार्य उपाध्याये सुप्रवचने दर्शने चापि ॥
भक्तिः पूजा, वर्णजननं च नाशनमवर्णवादस्य।
आसादनपरिहारो दर्शन—विनयः समासेन ॥

अर्हंत भगवान्, सिद्ध भगवान्, इनके चैत्य-प्रतिविम्ब, शास्त्र, दशलक्षणादि धर्म, रत्नत्रय के साधक साधु, पंचाचार के स्वयं आचरण करने वाले और दूसरों को आचरण कराने वाले आचार्य, स्वयं श्रुत के पढ़ने वाले और दूसरे शिष्यों को पढ़ाने वाले उपाध्याय, प्रवचन-जिनेन्द्र की वाणी और सम्यग्दर्शन इन दश की भक्ति करना—इनके गुणों में अनुराग रखना, द्रव्य या भाव से पूजा करना, (जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प आदि से अर्घ्यदान करना द्रव्य पूजा और उनके गुणों का स्तवन करना, स्मरण करना, प्रदक्षिणा देना, नमस्कार करना आदि भाव पूजा), वर्ण अर्थात् यश को जनन= प्रकट करना, विद्वानों की सभा में युक्तिबल से अर्हन्तादि के महान गुणों का प्रकाश करके यश का विस्तार करना, अवर्णवाद-दुष्ट पुरुषों के द्वारा लगाये गये असद्भूत दोष या अपवाद का नाश करना, उनके माहात्म्य का समर्थन करना और आसादन परिहार-उनमें अवज्ञा को दूर करना

अर्थात् आदर भाव प्रकट करना यह दर्शन-विनय का संक्षेप है।
स्वरूप है।

दोषनाशे गुणाप्तौ च प्रयत्नो विनयो दृशि।
दृगाचारश्च श्रद्धाने यत्नो मलविसर्जिते ॥१४०॥

सम्यग्दर्शन में दोषों को दूर करने और गुणों को उत्पन्न करने में जो प्रयत्न किया जाता है वह दर्शन विनय कहलाता है। और मल-शंकादि दोष रहित तत्वार्थ-श्रद्धान में जो प्रयत्न किया जाता है वह दर्शनाचार है।

सम्यग्दर्शन के दोष रहित और गुण सहित करने के प्रयत्न को दर्शन विनय कहते हैं तथा उस निर्दोष दर्शन की वृद्धि करने को दर्शनाचार कहते हैं। कहा भी है—"सम्यग्दर्शनादीनां हि निर्मलीकरणे यत्नं विनयमाहुः। तेष्वेव च निर्मलीकृतेषु यत्नमाचारमाचक्षते।" अर्थात् सम्यग्दर्शनादि को निर्मल बनाने में जो प्रयत्न किया जाता है वह विनय है और निर्मल बने हुए उनमें जो वृद्धि आदि का प्रयत्न है वह आचार है।

ज्ञान विनय के भेद तथा उसका स्वरूप :—

कालाचारादि-भेदेन ज्ञानस्य विनयोऽष्टधा।
ऋषिभिः कथितः शास्त्रे कर्मणां क्षयकारणम् ।१४१।
प्रयत्नः काल-शुद्ध्यादौ ज्ञानस्य विनयो मतः।
सत्यस्मिन् हि तदाचारोऽध्ययने तत्साधनेऽपि च ।१४२।

शास्त्रों में ऋषियों ने ज्ञान विनय के आठ भेद किये हैं :-

१-कालाचार २-विनयाचार ३-उपधानाचार ४ बहुमानाचार ५-अनिन्हवाचार ६-व्यञ्जनाचार ७-अर्थाचार ८-उभयाचार ज्ञान विनय कर्मों के क्षय करने में कारण है।

उक्त काल शुद्धि आदि के सम्बन्ध में प्रयत्न करना ज्ञान विनय कहलाता है और उन कालशुद्धि आदि के होने पर श्रुत का अध्ययन करने के लिये प्रयत्न करना तथा अध्ययन की साधनभूत पुस्तकादि के लिये प्रयत्न करना ज्ञानाचार है।

अब ज्ञान विनय के ऊपर कहे हुए आठ भेदों का पृथक् पृथक् वर्णन करते हुए सर्वप्रथम कालाचार का स्वरूप बताते हैं:-

संध्याकालादिकं त्यक्त्वा सूत्रस्याध्ययनं हि यत्।
कालनामादि-ज्ञानस्य विनयः प्रथमो मतः ॥१४३॥

संध्याकाल, सूर्य-चन्द्र-ग्रहण-काल, दिग्दाह, उल्कापात, वज्रपात, इन्द्र-धनुप, तूफान, भूकम्प आदि के समय असमय कहलाते हैं। इन असमयों को छोड़ कर सूत्र ग्रन्थ का अध्ययन करना 'काल' नामका ज्ञान-विनय या 'कालाचार' कहलाता है।

१-गोसर्गकाल (मध्याह्न से दो घड़ी पहले और सूर्योदय से दो घड़ी पीछे) २-प्रदोपकाल (मध्याह्न से दो घड़ी पीछे और रात्रि से दो घड़ी पहले) ३-प्रदोपकाल (रात्रि के दो घड़ी पश्चात् और मध्यरात्रि से दो घड़ी पहले) और ४-वैरात्रकाल (मध्य रात्रि से दो घड़ी पीछे और सूर्योदय से दो घड़ी पहले) इन चार उत्तम कालों में पठन पाठनादि रूप स्वाध्याय करने को कालाचार कहते

हैं। चारों संध्याओं की अन्तिम और आदि की दो दो घड़ियों में एवं सूर्य-चन्द्र-ग्रहण, दिग्दाह, उल्कापात, वज्रपात, इन्द्रधनुष, तूफान, भूकम्प आदि उत्पातों के समय सूत्र ग्रन्थों का पढ़ना वर्जित है। हां सूत्र ग्रन्थों के अतिरिक्त ग्रन्थ-स्तोत्र, आराधना, धर्म कथादि इन समयों में पढ़े जा सकते हैं।

प्रश्न—सूत्र ग्रंथ क्या कहलाते हैं?

उत्तर—गणधरों के द्वारा कहे हुए, प्रत्येक-बुद्ध के द्वारा कहे हुए. श्रुत केवलियों के द्वारा कहे हुए तथा अभिन्नदशपूर्व-धारियों के द्वारा कहे हुए सूत्र 'सूत्रग्रंथ' कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त किसी भी ग्रन्थ का असमय में स्वाध्याय करने में भी कोई हानि नहीं।

प्रश्न—वर्तमान में उपलब्ध कौन से ग्रंथ सूत्रग्रन्थ हैं और कौन से सूत्रों के अतिरिक्त?

उत्तर—सभी ग्रंथ सूत्र ग्रन्थों के अतिरिक्त हैं। वर्तमान में जितने भी ग्रंथ मिलते हैं वे सब आरातीय (आधुनिक) आचार्यों के द्वारा रचे हुए हैं। श्रुतकेवली, गणधर, प्रत्येक बुद्ध या दशपूर्व धारियों के द्वारा रचे हुए ग्रंथ अभी प्राप्त नहीं होते।

आगे विनयाचार का वर्णन करते हैं:—

स्तवः श्रुते श्रुतधरेऽथवा तद्गुण-दोहदम्।
तद्गुणप्रीतिरप्यत्र विनयाख्यो गुणो मतः ॥१४४॥

शास्त्रका, शास्त्रज्ञाता मनीषियों का स्तवन करना, उनके गुणों को प्राप्त करने की इच्छा रखना एवं उनके गुणों में प्रेम

करना 'विनयाचार' कहलाता है। मन वचन काय के विनय-पूर्वक एकान्त में बैठ कर शास्त्राध्ययन करना भी विनयाचार ही कहलाता है।

आगे उपधानाचार बताते हैं :—

सूत्र-सिद्धान्त-शास्त्राणां श्रवणे पठनेऽपि वा ।
कृत्वा कालावधिं कश्चित् संकल्पात्युपधानकम् ॥१४५॥

सूत्र सिद्धान्त और शास्त्रों के सुनने या पढ़ने में कालावधि करके संकल्प कर लेना कि अमुक समय तक मैं शास्त्र स्वाध्याय श्रवण आदि करूंगा—उपधानाचार कहलाता है।

आगे बहुमानाचार का स्वरूप बताते हैं :—

मनोवाक्कायशुद्धो हि सादरः साञ्जलिस्तथा ।
अधीते यो हि शास्त्रं स बहुमानान्वितो जनः ॥१४६॥

मनसा वाचा और कर्मणा शुद्ध होकर तथा आदर सहित हाथ जोड़ कर शास्त्र पढ़ना बहुमानाचार कहलाता है।

अब अनिन्हवाचार क्या है-यह बताते हैं :—

अनिन्हवो गुरोर्नाम्नः स्वश्रुताध्यापकस्य यः ।
अनिन्हवाख्यो विनयः स्मृतो ज्ञानस्य पंचमः ॥१४७॥

जिससे ज्ञान प्राप्त किया है-पढ़ा है उस गुरु का नाम नहीं छिपाना यह अनिन्हव नाम का पांचवां ज्ञानविनय है।

ग्रन्थाचार का लक्षण :—

शब्दशुद्ध्या हि पठनं शास्त्राणां व्यञ्जनाभिधः ।

विनयो मुनिभिः प्रोक्तः वाचकत्वप्रवेदिभिः ॥१४८॥

शब्दशास्त्रानुसार शुद्ध और व्यक्त अक्षर पद एवं वाक्य के—मूलमात्र आगम के—पठन पाठन को आचार्यों ने व्यञ्जनाचार कहा है। इसी को ग्रंथाचार, शब्दाचार, श्रुताचार, अक्षराचार आदि भी कहते हैं।

आगे अर्थाचार और उभयाचार का वर्णन करते हैं :—

शुद्धार्थकथनं चार्थ-नाम्ना हि विनयो मतः।
शुद्धशब्दार्थयुग्मोक्तिरुक्ताभयशुद्धिनामकः ॥१४६॥

शास्त्र का यथार्थ (शुद्ध) अर्थ अवधारण करना अर्थाचार और शुद्ध शब्द एवं शुद्ध अर्थ का कहना उभयाचार या युग्माचार है।

प्रश्न—उभयाचार को शब्दाचार और अर्थाचार से पृथक् कहने का क्या कारण है?

उत्तर—कहीं २ केवल ग्रन्थ (शब्द) से ही ज्ञान की आराधना होती है जैसे दशाध्याय सूत्र, नमस्कार मंत्र आदि का पाठ, और कहीं २ सिर्फ अर्थ से ही जैसे—शिवभूति मुनि ने केवल 'शरीरसे आत्मा तुप-मापकी तरह भिन्न है' शब्दों के विना इतना अर्थ जान कर ही आत्म-कल्याण किया। उभयाचार तो सारे ही वाङ्मय में व्याप्त है।

—चारित्र-विनय—

क्रोधाद्युपशमोऽर्थेषु रागद्वेषोज्झनं तथा।
समित्यां च समुद्योगः गुप्त्यस्था च महीयसी ॥१५०॥

एभिः सर्वैः समुद्धारो व्रतानां विनयो मतः।
चारित्रस्यापवर्गस्य हेतोः श्रेयोनुबन्धिनः ॥१५१॥

उठते हुए क्रोधादि कषायों का उपशम-नाश करने से या इन्हें प्रकट न होने देने से, मनोज्ञ और अमनोज्ञ पंचेन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों से रागद्वेष छोड़ने से, यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्तिरूप समितियों के पालने में पुनः २ प्रयत्न से, मन वचन काय की प्रवृत्ति-निरोध में या उनकी शुभ क्रियाओं में महान् आदर रखने से और इन सब के आश्रय से, अपने अहिंसादि व्रतों का उद्धार करने से, उन्हें निर्मल बनाने से स्वर्ग और मोक्ष की लक्ष्मी के कारणभूत चारित्र का विनय होता है।

चारित्र का मतलब आचरण है। उसे निर्मल या निर्दोष बनाने का प्रयत्न करना-यही चारित्र विनय है। अपनी प्रवृत्ति को सुधारने से चारित्र निर्मल हो सकता है। जो चारित्र-विनय-सम्पन्न होना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे अपनी प्रवृत्ति को सुधारें।

संसारी जीव की प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है। एक तो इन्द्रियों के द्वारा और एक मन के द्वारा। जो अपने मनोहर और अमनोहर विषय रूप, रस, गंध शब्द और स्पर्श में प्रवृत्ति होती है, उसमें मनोहर विषयों में राग और अमनोहर में द्वेष न करने से तथा क्रोध, मान, माया, लोभ और हास्य, रति, अरति, शोक भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुंवेद, नपुंसकवेद—नो कषायरूप मनको न करने से, यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति रूप समितियों के पालने में

पुनः पुनः प्रयत्न करने से, मन, वचन काय की प्रवृत्ति के निरोध रूप गुप्ति के धारण करने से या मन वचन, काय की शुभ क्रियाओं में महान् आदर रखने से इस जीव की प्रवृत्ति सुधर सकती है, और व्रतों को निर्मल बनाया जा सकता है। इसके लिये प्रयत्न करना यही चारित्र विनय का अभिप्राय है।

यही बात आगे कहते हैं :—

समित्यादिषु यत्नो यश्चारित्रविनयः स हि।
तेषु सत्सु तदाचारः प्रयत्नो व्रतगोचरः ॥१५२॥

व्रतों को निर्मल बनाने के लिये जो समिति पालन आदि में प्रयत्न करना सो चारित्रविनय है और उन समिति आदिके होने पर व्रतों को बढ़ाने आदि के लिये जो प्रयत्न किया जाता है उसे चारित्राचार कहते हैं।

आगे उपचार विनय के भेद बताते हैं।

भेदद्वयोऽस्ति विनयोपचारः-
परोक्ष-प्रत्यक्षभिदा परश्च ।
भेदत्रयः कायवचोमनोभिः-
कायस्य भेदाः खलु सप्त सूक्ताः ॥१५३॥

उपचार विनय के दो भेद हैं-परोक्ष और प्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष उपचार विनय के तीन भेद हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक इनमें भी काय-विनय के सात भेद कहे गये हैं वे निम्न प्रकार जानने चाहिये।

अभ्युत्थोचितदानं, उच्चासनप्रोज्झनानुव्रज्या च ।
पीठाद्युपनयनविधिः, कृत्याचारः प्रणामश्च ॥१५४॥

(१) अभ्युत्था—गुरुजनों को आता हुआ देख कर अपने आसन से उठ कर खड़ा हो जाना । (२) उचितदान—उनके योग्य पुस्तकादि वस्तुओं का प्रदान करना । (३) उच्चासनप्रोज्झन—उनके सामने ऊंचे आसन पर न बैठना, पहले बैठा हो तो फिर नीचे आसन पर बैठ जाना । (४) अनुव्रज्या—जाते समय उनके पीछे २ नम्रता और आदरके साथ कुछ दूर जाना । (५) पीठादि-उपनयनविधि—उनके बैठने सोने के लिये उचित प्रबन्ध करना (६) कृत्याचार उनके काल, भाव और शरीर के योग्य कार्योंको करना । जैसे—कालयोग्य—गर्मीमें ठंडक और ठंडमें गर्मी लाने वाली क्रिया, भावयोग्य—उन्हें कहीं भेजने का अवसर हो तो उनके अभिप्राय और आज्ञानुसार वहां जाना आना, शरीरयोग्य- उनके शरीर और बल के अनुरूप उनका मर्दन करना । (७) प्रणाम नमस्कारादि करना और 'च' शब्द से आदर के लिये उनके सन्मुख जाना आदि और भी प्रत्यक्ष उपचार विनय के भेद समझ लेना चाहिये ।

वाचिक विनय का स्वरूप :—

सूत्रानुसारि परिमितमथो हितं वचश्च संब्रुवतः ।
मितं सुपूज्यान् विनयो चतुर्विधो भवति वाग्जातः ।१५५।

पूज्य पुरुषों को सूत्रानुसारि, परिमित, हित और मित वचन कहने वाले के चार प्रकार का वाचिक विनय होता है ।

वागविनय के चार भेद हैं और वह पूज्य पुरुषों को उक्त चार विशेषण विशिष्ट वचन कहने वाले के सम्पन्न होता है । १- सूत्रानुसारि—जो आगम के अर्थ से विरुद्ध न हो । २- परिमित—जो कारण सहित हो । ३- हित—जो कल्याण कारक या धर्मयुक्त हो । ४- मित—जिसमें अक्षर कम हों और अर्थ वहुत हो ।

अन्य ग्रंथों में वाग्विनय के और भी अनेक भेद किये गये हैं पर उन सव का अभिप्राय यही है कि पूज्य पुरुषों के प्रति अपनी लघुता दर्शाते हुये भगवत् इत्यादि शब्दों से संवोधित करके कुछ निवेदन करना ।

मानसिक विनय का लक्षण:—

मानसविनयो द्विविधः, अशुभ-निरोधः शुभप्रवृत्तिश्च ।
प्रत्यक्षविनयभेदाः, इत्थं सर्वे समाख्याताः ॥१५६॥

मानसिक उपचार विनय के दो भेद हैं—अशुभ-निरोध अर्थात् अशुभ भावों को रोकना और शुभ-प्रवृत्ति अर्थात् शुभ भावों में प्रवृत्ति करना ।

आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक और गणधरादिकों के के विषय में सम्यक्त्व की विराधना करने वाले प्राणिवधादिक अशुभ भावों का रोकना और धर्म के लिये उपकारक तथा सम्यक्त्व और ज्ञानादि के विषय में शुभ विचार करना मानस विनय है ।

परोक्ष विनय के भेद:—

पूज्येषु परोक्षेष्वपि,

वाक्तनुचित्तैः प्रकुर्वतो भवति।

स्तोत्रादीन् विधियुक्तान्,

परोक्षविनयो त्रितयभेदः ॥१५७॥

परोक्ष विनय के भी तीन भेद हैं—वाचिक, शारीरिक और मानसिक। जो पूज्य पुरुष परोक्ष हों, अपने इन्द्रियगोचर नहीं हैं, उनका भी वचन के द्वारा गुण-स्तवन करना, जयघोष, आशीर्वादादि बोलना वाचिक परोक्ष विनय है। मन के द्वारा उनका स्मरण करना, उनके गुणों का चिन्तवन आदि करना मानसिक परोक्ष विनय है तथा शरीर के द्वारा उनको हाथ जोड़ना, नमस्कार करना आदि शारीरिक परोक्ष विनय है।

आगे तप विनय का वर्णन करते हैं:—

कुर्वन् कर्मावश्यकमुत्सहमानस्तथाग्रगुणभूमौ।

भजन् तपोगुरुवृन्दं तपोविनीतिं समाश्रयति ॥१५८॥

रोग आदि से पीड़ित होने पर भी जिनका करना जरूरी है अथवा जो रागादि के वशीभूत न होने वाले पुरुष के कार्य हैं उन को आवश्यक कहते हैं। जो आवश्यक कर्मों को करता है, क्षुधादि परीषहों से नहीं घबराता बल्कि आतपनादि उत्तर गुणोंमें, संयम विशेष में या आगे के गुणस्थानों की प्रवत्ति में उत्साह रखता है, अनशनादि तपों को करता है, तप में वृद्धों—अपने से

बड़े हुओं की सेवा करता है और जो अपने से कम हैं उनकी भी अवज्ञा नहीं करता, यथोचित सत्कार करता है वही तप-विनय-सम्पन्न होता है।

ज्ञानलाभाय कर्तव्या तथाचारविशुद्धये।
आराधनादि-सिद्ध्यर्थं विनयोपेतताऽमला ॥१५६॥

ज्ञान के लाभ के लिये, दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तप आचार और वीर्याचार इन पांच आचारों की निर्मलता के लिये, तथा पूर्वोक्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार इन चार आराधनाओं तथा और भी अनेक गुणों की सिद्धि के लिये विनयसम्पन्नता को निर्मल बनाना चाहिये। अर्थात् विनय-सम्पन्नता के पूर्वोक्त लाभ जान कर उसे वार वार निर्मल बनाने की चेष्टा करनी चाहिये।

इस प्रकार विनय-सम्पन्नता नामक द्वितीय भावना का संक्षेप वर्णन समाप्त हुआ।

अब शील-व्रतेष्वनतिचार नाम की भावना का वर्णन प्रारम्भ करते हैं। उसमें प्रथम 'शील' क्या है यह बतलाते हैं और उसके पालन का उपदेश देते हैं:—

व्रतप्रपालनार्थानि शीलान्याहुर्महर्षयः।
क्रोधादिवर्जनादीनि ततोऽभ्यस्येत् त्रियोगतः ॥१६०॥

अहिंसादि व्रतों की रक्षा के कारणों को 'शील' कहा जाता है। क्रोधादि कषायों के त्याग से व्रतों की रक्षा होती है इस लिये

शील-पालन की अभिलाषा रखने वालों को चाहिये कि क्रोध आदि का त्याग कर दें और शील को निरतिचार बनाने के लिये अक्रोधादि का मन, वचन, काय से उत्तरोत्तर अभ्यास बढ़ावें।

शील शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं। जैसे—सत्व-भाव, ब्रह्मचर्य, दिग्विरति आदि सात व्रत। कितनी जगह शील शब्द का स्वदारसन्तोष या ब्रह्मचर्य अर्थ मान कर उसी की मुख्यता से इस धर्म का वर्णन किया गया है पर यह अर्थ यहां नहीं लिया जा सकता। शील का यह अर्थ तो पांचों व्रतों में ही आ जाता है, यदि ग्रन्थकार का यही अभिप्राय होता तो फिर उसे व्रतों से पृथक गिनाने की क्या आवश्यकता थी। इस लिये इस अर्थ को छोड़ कर शेष पर हम विचार करते हैं। सत्वभाव का अर्थ है क्रोधादि के वश में न होना। यह सत्वभाव अहिंसादि व्रत रक्षा में प्रधान है। अतिक्रोधी, लोभी, मानी या मायाचारी अहिंसादि व्रतों को कभी निर्मल नहीं रख सकता। इसी लिये अहिंसादि व्रतों की रक्षा के लिये क्रोधादि कषाय छोड़ने चाहिये। दिग्विरति आदि व्रतों की रक्षा के लिये ही होते हैं और वे भी कषाय अतिमंद कर लेने पर हो सकते हैं। इसी लिये तीन गुण-व्रत और चार शिक्षाव्रतों को भी शील मान लिया गया है।

व्रत का लक्षण और उसका फल:—

शुभे प्रवृत्तिर्ह्यशुभान्निवृत्तिः,

सेव्येऽथवा स्यान्नियमोऽभिसंधि-

कृतो व्रतं तस्य फलद्वयं स्यात्,
साक्षादसाक्षाच्च सुखोपवर्गौ ॥१६१॥

शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करना और अशुभ कार्यों को छोड़ देना यह व्रत है। कितने ही आचार्य यह कहते हैं कि अपने सेवनीय विषयों में अभिप्राय पूर्वक नियम कर लेना व्रत है। जैसा कि स्वामी समन्तभद्र ने लिखा है :—

यदनिष्टं तद् व्रतयेत् यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्।
अभिसंधिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद् व्रतं भवति ॥

अर्थात् जो अनिष्ट है, जो वस्तु अपनी प्रकृति के अनुकूल नहीं है उसे छोड़ दे और जो अनुपसेव्य है, शिष्ट पुरुषों के सेवन करने योग्य नहीं है उसे भी छोड़ दे, पर इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों के त्याग को व्रत नहीं समझना चाहिए। व्रती बनने वाले के लिए इन का त्याग कर देना तो आवश्यक है ही; पर वास्तव में व्रत वह है जो कि अपने सेव्य नियमों में प्रतिज्ञा पूर्वक कुछ पदार्थों के सेवन का त्याग कर दिया जाय और नियम किये हुए पदार्थों में ही प्रवृत्ति की जाय।

इस व्रत के दो फल हैं—साक्षात् और असाक्षात्। साक्षात् या प्रत्यक्ष में इससे सांसारिक सुखों की प्राप्ति होती है और असाक्षात् या परोक्ष में परम्परा से मोक्ष मिलती है।

संक्षेपात्पापमेकं स्यात् विस्तारात्पञ्चभित्तथा।
तस्य त्यागो द्विधा प्रोक्तः सर्वथाऽणुतया तथा ॥१६२॥

शील-पालन की अभिलाषा रखने वालों को चाहिये कि क्रोध आदि का त्याग कर दें और शील को निरतिचार बनाने के लिये अक्रोधादि का मन, वचन, काय से उत्तरोत्तर अभ्यास बढ़ावें।

शील शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं। जैसे—सत्व-भाव, ब्रह्मचर्य, दिग्विरति आदि सात व्रत। कितनी जगह शील शब्द का स्वदारसन्तोष या ब्रह्मचर्य अर्थ मान कर उसी की मुख्यता से इस धर्म का वर्णन किया गया है पर यह अर्थ यहां नहीं लिया जा सकता। शील का यह अर्थ तो पांचों व्रतों में ही आ जाता है, यदि ग्रन्थकार का यही अभिप्राय होता तो फिर उसे व्रतों से पृथक गिनाने की क्या आवश्यकता थी। इस लिये इस अर्थ को छोड़ कर शेष पर हम विचार करते हैं। सत्त्वभाव का अर्थ है क्रोधादि के वश में न होना। यह सत्त्वभाव अहिंसादि व्रत रक्षा में प्रधान है। अतिक्रोधी, लोभी, मानी या मायाचारी अहिंसादि व्रतों को कभी निर्मल नहीं रख सकता। इसी लिये अहिंसादि व्रतों की रक्षा के लिये क्रोधादि कषाय छोड़ने चाहिये। दिग्विरति आदि व्रतों की रक्षा के लिये ही होते हैं और वे भी कषाय अतिमंद कर लेने पर हो सकते हैं। इसी लिये तीन गुण-व्रत और चार शिक्षाव्रतों को भी शील मान लिया गया है।

व्रत का लक्षण और उसका फल:—

शुभे प्रवृत्तिस्त्वशुभान्निवृत्तिः,

सेव्येऽथवा स्यान्नियमोऽभिसंधि-

कुतो व्रतं तस्य फलद्वयं स्यात्,
साक्षादसाक्षाच्च सुखोपवर्गौ ॥१६१॥

शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करना और अशुभ कार्यों को छोड़ देना यह व्रत है। कितने ही आचार्य यह कहते हैं कि अपने सेवनीय विषयों में अभिप्राय पूर्वक नियम कर लेना व्रत है। जैसा कि स्वामी समन्तभद्र ने लिखा है :—

यदनिष्टं तद् व्रतयेत् यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्।
अभिसंधिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद् व्रतं भवति ॥

अर्थात् जो अनिष्ट है, जो वस्तु अपनी प्रकृति के अनुकूल नहीं है उसे छोड़ दे और जो अनुपसेव्य है, शिष्ट पुरुषों के सेवन करने योग्य नहीं है उसे भी छोड़ दे, पर इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों के त्याग को व्रत नहीं समझना चाहिए। व्रती बनने वाले के लिए इन का त्याग कर देना तो आवश्यक है ही; पर वास्तव में व्रत वह है जो कि अपने सेव्य नियमों में प्रतिज्ञा पूर्वक कुछ पदार्थों के सेवन का त्याग कर दिया जाय और नियम किये हुए पदार्थों में ही प्रवृत्ति की जाय।

इस व्रत के दो फल हैं—साक्षात् और असाक्षात्। साक्षात् या प्रत्यक्ष में इससे सांसारिक सुखों की प्राप्ति होती है और असाक्षात् या परोक्ष में परम्परा से मोक्ष मिलती है।

संक्षेपात्पापमेकं स्यात् विस्तारात्पञ्चभित्तथा।
तस्य त्यागो द्विधा प्रोक्तः सर्वथाऽणुतया तथा ॥१६२॥

सर्वत्यागो मुनेः प्रोक्तः गृहि-त्यागस्तु देशतः ।
शीलं चापि द्विधा प्रोक्तं गृहस्थ-मुनि-भेदतः ॥१६३॥

संक्षेप से पाप एक ही है, हिंसा में ही सब पापों का समावेश हो जाता है। विस्तार से पापों के पांच भेद हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। उनका त्याग दो प्रकार से हो सकता है:—पूर्ण रूप से तथा एक देश। मुनियों के पापों का पूर्ण त्याग होता है। किन्तु गृहस्थ के पूर्ण त्याग नहीं होता, वह महाव्रत धारण नहीं कर सकता, उसके एक देश विरति ही होती है। इसी प्रकार शीलों के भी दो भेद हैं—गृहस्थों के शील और मुनियों के शील। जिनसे अणुव्रतों की रक्षा होती है वे गृहस्थों के शील हैं और जिनसे महाव्रतों की रक्षा होती है वे मुनियों शील हैं।

विवेचन—जितने भी पाप या बुराइयां हैं उन सबके पैदा होने में एक-सी मनोवृत्ति काम करती है, इस लिये पापों के अधिक भेद न करके हम उन सब को एक हिंसा पाप में ही अन्तर्भूत कर सकते हैं क्योंकि सभी बुराइयों में अपने या दूसरे के प्राणों को पीड़ा पहुंचाने के विकार भावों के विद्यमान रहने से वे सभी हिंसा रूप हैं। और हिंसा को ही अच्छी तरह समझाने के लिए पापों के पांच भेद भी किये गये हैं। सब पापों के मूल में हिंसा तो अवश्य ही नजर आवेगी, पर जहां राग-द्वेषादि रंजित मनोवृत्ति से अपने या दूसरों के प्राणों को साक्षात् पीड़ा हो वहां हिंसा और जहां परम्परा से पीड़ा हो अन्य पाप समझने चाहिए।

पर हां हिंसा ही उन सब की जड़ है, सब में व्यापक है, उसके बिना कोई पाप नहीं हो सकता ।

हिंसा के सम्बन्धमें अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं, पर हिंसा पाप को ठीक-ठीक समझे बिना अहिंसा धर्म के संबंधमें जो लोगों को भ्रान्ति हो रही है उसे दूर करने के लिये कुछ लिखा जाता है ।

सर्व साधारण मनुष्य यह समझते हैं कि किसी जीव को मार देना हिंसा है । पर उनका यह समझना ठीक नहीं, किसी भी जीव को मारे बिना केवल उसको पीड़ा पहुंचाने के अशुभ संकल्प से भी हिंसा हो जाती है और अनेक बार जीव-वध हो जाने पर भी यदि उस सम्बन्ध में अपने में राग-द्वेष या असावधान प्रवृत्ति नहीं हुई है तो हिंसा पाप का लेश-मात्र भी दोष न लगेगा ।

श्री उमास्वामी ने हिंसा का लक्षण करते हुये लिखा है कि—"प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ।" अर्थात्—जो प्राण वध प्रमाद के योग से हो वह हिंसा है । डाक्टर सावधानी से इलाज कर रहा है, इसके द्वारा रोग निवारण के लिए किये गये औषधि या यन्त्र के प्रयोग से यदि रोगी के प्राण भी निकल जांय तो वह अपराधी नहीं, हिंसा का दोष उसे नहीं लगेगा, क्योंकि उसमें असत्प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव है । किन्तु जो धीवर जलाशय पर मछलियों को पकड़ने के लिये जाल बिछाये बैठा है उसके यदि सुबह से शाम तक एक भी मछली हाथ न लगे तो भी वह

महान पापी है, बड़ा भारी हिंसक है। शास्त्रों में जो तन्दुल मत्स्य का कथानक आया है उससे इसका और भी स्पष्टीकरण हो जाता है। स्वयंभूरमण समुद्र का महामत्स्य महाहिंसक होता है, असंख्यात जीवों को मार देता है वह सातवें नरक में जाता है और उसकी आंखों में रहने वाला तन्दुल मत्स्य जो किसी भी जीव को नहीं खा पाता, एक भी जीव की द्रव्य हिंसा जिसके द्वारा नहीं होती, केवल अगणित जीवों को सताने और मारने की अपनी अशुभ भावनाओं से ही इतना पाप बांध लेता है कि उसे भी सातवें नरक में जाना पड़ता है। यह सब भावों की ही विचित्रता है। पाप बन्ध में भाव ही मुख्य हैं। बाह्य कार्य चाहे वैसा हो सके या न हो सके, अशुभ-भावों के मन में पैदा होते ही पाप अवश्य लग जाता है। क्योंकि उनसे अपने आत्मा की हिंसा तो हो ही गई, शुद्धोपयोग रूप अपने भावों का घात भी राग-द्वेष के मन में आते ही हो गया। हिंसा और अहिंसा का इतना सूक्ष्म मर्मस्पर्शी विवेचन जैन शास्त्रों के अलावा अन्यत्र नहीं किया गया। सूक्ष्म से सूक्ष्म हिंसा को भी पाप समझने के कारण ही जैन धर्म का अनेक जगह 'अहिंसा धर्म' के नामसे ही व्यवहार हुआ है।

बहुत से लोग ऐसी हिंसा ( संकल्पी हिंसा ) को पाप नहीं समझते और बहुतों का यह खयाल है कि ऐसे अहिंसक वीर नहीं हो सकते, ऐसी अहिंसा तो कायरता का ही पर्याय मात्र है। पर उनका यह समझना भ्रान्ति-मूलक ही है। हिंसा और अहिंसा का ठीक-ठीक स्वरूप न समझने से ही लोगों में ऐसे भ्रान्त

विचार पैदा हुआ करते हैं। हिंसा की परिभाषा की ओर यदि वे थोड़ा सा भी ध्यान दें तो फिर ऐसी गलत धारणाएं नहीं रह सकतीं। उन्हें मालूम होगा कि वीरता का आभूषण अहिंसा है और अहिंसा का अलंकार वीरता है। वीर के लिए अहिंसक होना केवल शोभा की वस्तु नहीं अपितु अनिवार्य भी है। पर यह स्मरण रहे कि वीरता उस पशुवृत्ति का नाम नहीं है, जिसके अधीन हो कर मनुष्य दूसरों के अधिकारों का अपहरण कर लेता है या निर्बलों को सताने लगता है। वास्तव में ऐसी वृत्ति वीरता नहीं, क्रूरता है और पाप बन्ध का कारण है। शास्त्रकार लोक-कल्याण के विरोधी किसी भी कार्य को अच्छा नहीं बताते, चाहे दुनियां उसे कितने ही महत्व की दृष्टि से क्यों न देखे और जो साक्षात् या परम्परया लोक-कल्याण के विरुद्ध नहीं पड़ता, जिससे प्रत्यक्ष या परोक्ष भलाइयां ही पैदा होंगी उसे ऊपरी रूप में बुरा दिखते हुए भी निषिद्ध नहीं बतलाते। इस दृष्टि से आप किसी प्रश्न का ठीक-ठीक समाधान पा सकेंगे।

हिंसा के चार भेद किये गये हैं। संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी। किसी जीव को सताने का विचार करना संकल्पी हिंसा है। घर के आरम्भ कार्यों में जो प्राण-वध होता है उसे आरम्भी हिंसा कहते हैं। जीवन निर्वाह के लिए आजीविका प्राप्त करने में जो प्राणियों को पीड़ा पहुंचती है वह उद्योगी हिंसा है और जो अपने या अपने आश्रितों की जीवन-रक्षा में किसी के प्राण चले जांय वह विरोधी हिंसा है।

आप देखेंगे इनमें संकल्पी हिंसा ही सबसे बुरी है, लोक-कल्याण के विरुद्ध मार्ग में ले जाने वाली है। बाकी तीनों हिंसाओं में किसी को पीड़ा पहुंचाने के भाव नहीं होते। गृहस्थ का जीवन निर्वाह ही उनके बिना नहीं होता, इस लिए वे विवश हो कर उसे करनी पड़ती हैं। यही जैन सिद्धान्त का सूक्ष्म रहस्य है, जहां इरादा करके एक छोटे से छोटे जीव को सताना भी पाप बताया गया है वहां अपने विरोधी असत्मार्ग में प्रवृत्त होने वाले को मार देने में दोष नहीं बताया गया। क्योंकि दोष तो तब होता, जब निरपराधी को पीड़ित किया जाता। अपराधी को उसका बुरा करने की इच्छा न रहते हुए भी उचित सजा देना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि यदि उसके दुष्कृत्यों की उपेक्षा की जाय तो उससे दुष्प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा और पाप बढ़ेगा। अपराधी को सजा देना बाह्य में हिंसा रूप होता हुआ भी वास्तव में हिंसा के मूल स्रोत को बन्द करता है इस लिए गृहस्थ के लिए विरोधी हिंसा उपेक्षणीय नहीं है।

"दण्डो हि केवलो लोकमिमं चामुं च रक्षति।"

इत्यादि वाक्यों से यही सिद्ध होता है कि अपराधी को यथायोग्य दण्ड अवश्य देना चाहिये। ऐसी हिंसा दोष-युक्त नहीं है।

बहुत से लोग समझते हैं कि हिंसा तो हिंसा ही है। जो बुराई है उसका करना किसी भी दृष्टि से श्रेयस्कर नहीं। आज अहिंसा का यह अतिरंजित रूप ही हमारे सामने है और अहिंसा

धर्म का ऐसा अर्थ समझ कर ही लोग उसे कलंकित कर रहे हैं और अनेक दोष दिखा रहे हैं, पर अहिंसा धर्म का ऐसा आदेश नहीं है। ऐसी अहिंसा केवल पूजा की वस्तु है, दुनियां के प्राणियों के जीवन की वस्तु नहीं, उससे लोक व्यवहार नहीं चल सकता। इसी लिये अहिंसा महाव्रत के पालन के अधिकारी केवल योगी ही हैं, जिनका दुनियां से कोई सम्बन्ध नहीं, दुनियां में रहने वाले, सांसारिक जीवन बिताने वाले गृहस्थ यदि उस अतिरंजित रूप को अपना धर्म समझें तो गलती करेंगे, धोखा खावेंगे और पाप के भागी अवश्य होंगे। सार यह है कि जैनी अनेकान्तवादी हैं। अन्यान्य क्षेत्रों की तरह हिंसा-अहिंसा के क्षेत्र में भी उन्होंने अनेकान्त का उपयोग किया है। इस अनेकान्त का माहात्म्य अपार है। इसी के बल से यह जाना जाता है कि कोई जीव द्रव्य-हिंसा न करके भी केवल भावों से ही हिंसा के फल को पाता है और कोई जीव हिंसा करके भी अपने वैसे भाव न होने से उस हिंसा के फल को नहीं भोगता। एक जीव बाह्य में थोड़ी हिंसा करके भी परिणामों की तीव्रता से फल अधिक भोगता है। और एक जीव को मन्द भाव होने से महा हिंसा का भी स्वल्प फल मिलता है। यह भी अनेकान्त के माहात्म्यसे ही समझमें आता है कि हिंसा एक पुरुष करता है और उस का फल उसकी सराहना करने वाले अनेक प्राणी पा लेते हैं। लड़ाई में अनेक सैनिक हिंसा करते हैं, पर उसका विशेष फल राजा को ही प्राप्त होता है। ऐसे ही और भी अनेक बातें

अनेकान्त से सहज ही समझ आ जाती है और कोई विरोधी नहीं रहता। पर यहां यह बिलकुल न भूल जाना चाहिए कि निरपराधी को सताना तो क्या, सताने का विचार भी महा हिंसा है। इसी लिए धर्म समझ कर यज्ञ में निरपराध जीवों को होम देना, देवताओं को बलि चढ़ाना, किसी अतिथि को खिलाने के लिये प्राणि-वध करना आदि कृत्य शास्त्रों में पाप बताये गये हैं और बहुत से प्राणियों की हिंसा करने वाले सिंहादि हिंसक जीवों को मार देना भी अच्छा नहीं बताया। क्योंकि किसी भी हिंसक या दुःख पाने वाले जीव को मारने से पहले संकल्प मात्र से ही जीव स्वयं हिंसक बन जाता है। सार यह है कि जो हिंसा, बुराई की ओर ले जाने वाली है. वह सर्वथा त्याज्य है और जिस हिंसा का उद्देश्य लोक-धर्म की रक्षा है वह गृहस्थ के लिये त्याज्य नहीं है। त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग करके व्यर्थ स्थावर जीवों को न सताने वाला गृहस्थ शास्त्रीय दृष्टि से अहिंसक ही है।

## असत्य

रागादि भावों के आवेश से अप्रशस्त वचन बोलना असत्य है। असत्य का स्वरूप समझने में भी बहुत से लोग गलती करते हैं। प्रायः लोग यह समझते हैं कि किसी बात को जैसे का तैसा कह देना सत्य है और इससे विपरीत बोलना असत्य है। परन्तु उनका यह खयाल ठीक नहीं है। असत्य और अयथार्थ में बहुत

अन्तर है। जैनशास्त्रों में असत्य का अर्थ अविद्यमान नहीं किया गया किन्तु 'अप्रशस्त' किया गया है। क्योंकि अप्रशस्त वचन बोलने से ही दुनियां का अकल्याण हो सकता है और वही पाप है।

असत्यके चार भेद हैं :-(१) स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा विद्यमान वस्तु को अविद्यमान कहना (२) स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल भावकी अपेक्षा अविद्यमान को विद्यमान कहना (३) स्वद्रव्य क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा विद्यमान को अन्य स्वरूप कहना (४) असत्य के चौथे भेद में तीन प्रकार के वचनों को गिनाया गया है—गर्हित, सावद्य और अप्रिय। निन्द्य वचनों को गर्हित कहते हैं। हंसी मजाक के वचन जिनसे दूसरों का बुरा हो, तथा व्यर्थ के गपशप शास्त्र विरुद्ध वचन गर्हित वचन कहलाते हैं। सावद्य वचन वे हैं, जिनसे पाप की प्रवृत्ति हो। अप्रिय वचन वे हैं जो सुनने वाले को बुरे लगें, भय, शोक, वैर आदि उत्पन्न करदें।

इन चारों ही प्रकार के असत्य वचनों में प्रमत्तयोग रहता है और ये लोक कल्याण के विरोधी हैं अतः पाप रूप हैं और हिंसा में समाविष्ट भी हैं।

मुनिजन असत्य के सर्वथा त्यागी होते हैं। उनका धर्मो-पदेश पापियों को अप्रिय मालूम दे तो भी वे असत्य के दोषी नहीं, क्योंकि उनके वचन प्रमाद-कषाय पूर्ण नहीं होते।

गृहस्थ अप्रशस्त वचनों के बोलने का पूरा त्याग नहीं कर

सकते, क्योंकि उनके समस्त सांसारिक कार्यों का सावद्य वचनों के बोले विना हो सकना कठिन है। अतः उनके लिये यह उचित है कि वे सावद्य को छोड़ कर वाकी समस्त अनृत वचनों का त्याग करदें और सावद्य वचन भी केवल उतना ही बोलें जितना उन्हें अपने भोगोपभोगादि के निमित्त लाचारी से बोलना पड़े। विशेष उसका भी त्याग करें।

# चोरी

चोरी तीसरा पाप है। चोरी का अर्थ सब कोई जानते हैं। पराई वस्तु को उसके मालिक की आज्ञा के विना लोभादि के कारण ले लेना चोरी है। इस प्रकार दूसरे की वस्तुओं को ले लेने से उस वस्तु के स्वामी का दिल बहुत दुखता है। बहुत से मनुष्य तो अपनी प्रिय वस्तुओं की चोरी हो जाने पर पागल तक होते देखे गये हैं। धन मनुष्यों का वाहिरी प्राण है। उसके चले जाने पर वे अधमरे हो जाते हैं और कभी २ तो यहां तक होता है कि हाहाकार करते हुए मर भी जाते हैं। इस लिये चोरी भी हिंसा का ही एक प्रकारान्तर है। जहां भी चोरी होगी वहां प्रमाद और प्राण-पीड़ा अवश्य होगी और यही हिंसा है।

मुनिजन चोरी पाप के पूर्ण त्यागी होते हैं, क्योंकि वे किसी भी वस्तु को, जिनमें लेने-देने का व्यवहार है, विना दिये नहीं लेते। गृहस्थ ऐसा त्याग नहीं कर सकता, वह देश त्याग करता है। अर्थात् जिन पर सब का अधिकार है, और जिनको

उपयोग में लाना चोरी नहीं समझा जाता उन जल मिट्टी वगैरह वस्तुओं को वह बिना किसी से पूछे भी काम में ले लेता है और अन्य समस्त वस्तुओं को बिना दिये ग्रहण नहीं करता।

# कुशील

काम सेवन को कुशील कहते हैं। यह भी पाप है। क्योंकि काम सेवन के विचारमात्र से ही आत्मा का शुद्धोपयोग से पतन हो जाता है और लौकिक दृष्टि में भी वह पाप है, इसमें तो कुछ कहने की आवश्यकता नहीं कि काम भोग रागादि भावों के विना नहीं होता और शरीर में शिथिलता आदि हो जाने से इसमें द्रव्य प्राणों का घात भी स्पष्ट ही है अतः कुशील को भी हिंसा के वहिर्भूत नहीं समझना चाहिये।

मुनिजन कृत, कारित, अनुमोदना तथा मन, वचन, काय से कामभोगों के त्यागी होते हैं इस लिये उनके कुशील का पूर्ण त्याग होता है। गृहस्थ अपनी स्वीकृत पत्नी के साथ मैथुन सेवन का त्यागी नहीं होता, उसके अतिरिक्त अन्य स्त्रियों के साथ काम सेवन का ही उसके त्याग होता है अतः वह इसका एक देश त्यागी कहलाता है और वह यदि अपनी स्त्री-मात्र में सन्तोष रक्खे तो उसके लिये दोष रूप नहीं है।

# परिग्रह

मूर्च्छा को परिग्रह करते हैं। मूर्च्छा का अर्थ है आसक्ति। अन्तरङ्ग में क्रोधादि कषायों का विद्यमान होना अन्तरङ्ग परिग्रह

है और रागादि के कारण वाह्य में अपनाये हुए धन-धान्य-स्त्री-पुत्रादि वाह्य परिग्रह हैं। ये दोनों ही प्रकार के परिग्रह पाप बंध के कारण हैं। परिग्रह पाप इस लिये है कि परिग्रह वाला जीव दूसरे के अधिकारों का अपहरण करता है, दूसरों की आवश्यक-ताओं की पूर्ति में वाधा पहुंचाता है। वह अपनी आवश्यकताओं को वढ़ा कर देखता है और दूसरों की आवश्यकताओं की ओर दृष्टि नहीं डालता उनकी उपेक्षा करता है। इस लिए परिग्रही को भी हिंसक की तरह ही पापी समझना चाहिए। अन्य शास्त्रों में लिखा है:—

"हिरण्यमयेन पापेन सत्यस्य पिहितं मुखं।"

अर्थात्—सचाईका मुंह सोनेसे वंद है। एक ग्रंथमें कलियुग के निवास स्थानों को वताते हुए लिखा है कि 'सोने में भी कलि-युग रहता है।' वास्तव में कलियुग का प्रसार धन-लिप्सा के कारण ही हुआ है। महात्मा ईसा का कहना है कि—"सुई के छेद में हो कर ऊंट का निकल जाना सम्भव है पर धनिकों का स्वर्ग के द्वार में प्रवेश पा सकना सम्भव नहीं।" इसका भी भाव यही है कि धनादि पाने पर पाप हुए विना नहीं रहते। अदालतों में जा कर पाप की मूर्तियों को देखिए, परिग्रह के सारे खेल समझ में आ जावेंगे। आज दुनियां में वड़े-वड़े युद्ध हो रहे हैं वे क्यों हैं? परिग्रह वढ़ाने के लिए ही तो हैं। दुनियां में साम्राज्यवाद, पूंजीवाद आदि सव की जड़ परिग्रह ही है। परिग्रह की महत्वाकांक्षा से ही इनका जन्म हुआ है। साधारण

जनता की गलती यह है कि वह अन्य पापों की तरह परिग्रह को पाप की दृष्टि से नहीं देखती । धनवानों और चक्रवर्तियों की खूब तारीफ की जाती है और उनके अन्याय और अत्याचारों को भी भुला दिया जाता है । सारी सामाजिक विषमता का कारण यही है। भोग भूमि में समता थी और कर्म भूमि में विषमता इसका कारण यही तो हुआ कि कर्म-भूमि के स्वार्थी मनुष्य ने सब कुछ अपने पास ही इकट्ठा कर लेना चाहा। इस प्रवृत्ति को देख कर जो घबड़ाये, उन्हों ने कहा—परिग्रह पाप है । इस दृष्टि से सूक्ष्म विचार किया जाय तो परिग्रह वास्तव में साधारण पाप नहीं, सबसे बड़ा पाप है। यदि ऐसा न होता तो दुनियां में हिंसा इतनी फूलती फलती नहीं । परिग्रह के बाह्य और अभ्यन्तर दोनों ही रूपों में ममत्व परिणाम रहते हैं इस लिये हिंसा ही एक पाप मानने वाले आचार्यों ने इसका भी हिंसा में ही अन्तर्भाव कर लिया है।

परिग्रह का पूर्ण त्याग मुनियों के ही होता है । गृहस्थ-जीवन ही परिग्रहमय है। इस लिए गृहस्थों के परिग्रह का पूर्ण रूप से त्याग हो सकना असम्भव है । बहुधा गृहस्थ परिग्रह बढ़ाना चाहते हैं, घटाना नहीं चाहते। वे दुनियां की वस्तुओं को पा कर अपने से उन्हें अभिन्न सा अनुभव करने लगते हैं और उनके चले जाने पर उनको अतिशय दुःख होता है। धर्माचार्यों ने इस पाप पङ्क से गृहस्थों को बचाने के लिए दान की सुन्दर व्यवस्था बनाई है। दान की प्रवृत्ति का यही उद्देश्य है

कि किसी तरह गृहस्थ का मोह दूर होवे और एकत्र रक्खीं चीजें आवश्यकता वालों के हाथों में पहुंचें। इसी लिये दान पुण्य-वन्ध का कारण है और उससे सुख मिलता है। भोग-भूमि के सुख का कारण भी यही था कि वहां विपमता पैदा करके दुःख वढ़ाने वाला वाह्य परिग्रह विलकुल नहीं था। जो धन इकट्ठा ही करते हैं, उसे परोपकार में खर्च नहीं करते वे प्राणी सवसे वड़े हिंसक हैं। धर्माचार्यों की अदालत में दूसरों के प्राण लेने वाले खूनियों की अपेक्षा ऐसे परिग्रहियों का अपराध गुरुतर समझा जाता है और ऐसे चोरों को सजा भी वहुत कड़ी मिलती है।

एतयोरतिचारान् वै-विमुच्य परिसेवनम्।
शीलव्रताऽनतीचारः तृतीया भावना परा ॥१६४॥

उक्त पांच व्रतों का तथा शील व्रतों का निरतिचार पालन करना शीलव्रतेष्वनतिचार नाम की तीसरी भावना है।

पांचों व्रत तथा सात शीलों में से प्रत्येक के पांच पांच अतीचार स्थूल रूप से वताये गये हैं। उनका कुछ वर्णन यहां भी किया जाता है:—

अहिंसाणुव्रत के पांच अतिचार—१-वंध—यानी पशु आदि जीवों को वांधना। २-वध—लकड़ी वगैरह से जीवों को मारना। ३-छेद—जीवों के नाक कान वगैरह छेदना। ४-अतिभारारोपण—शक्ति से ज्यादा वोझ लादना। ५-अन्नपान निरोध—भोजन जल वगैरह न देकर भूखों मारना।

सत्याणुव्रत के अतिचार—१-मिथ्योपदेश—आगम विरुद्ध

झूठा उपदेश देना। २-रहोभ्याख्यान—स्त्री पुरुष आदि की गुप्त क्रियाओं एवं बातों को प्रकट कर देना। ३-कूटलेख क्रिया—झूठे खत, बही खाते वगैरह लिखना। ४ न्यासापहार—किसी की रखी हुई धरोहर में से कम कर देना ( रखने वाला भूल जाय और कम बतावे तो जानते हुये भी यह कह देना कि इतना ही है) ५-साकार मन्त्र भेद—मुंह आदि की क्रियाओं से किसी गुप्त बात को जान कर प्रकट कर देना।

अचौर्याणुव्रत—१-स्तेन प्रयोग—चोरी करने के उपाय बताना। २-तदाहृतादान—चोरी का माल लेना। ३-विरुद्ध-राज्यातिक्रम—राजाज्ञा विरुद्ध चलना। ४-हीनाधिक मानोन्मान—लेने देने के बांट तराजू आदि ज्यादा व कम रखना। ५-प्रतिरूपक व्यवहार—मिलावट मिलाकर किसी पदार्थ को देना, जैसे दूध में पानी, घी में चरबी आदि। ये अचौर्याणुव्रत के पांच अतिचार हैं।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतीचार—१-परविवाह करण—दूसरों का विवाह कराना। २-परिगृहीतेत्वरिका गमन—दूसरे की विवाहिता व्यभिचारिणी स्त्री के पास आना जाना। ३-अपरिगृहीतेत्वरिका गमन-वेश्या आदि के पास जाना। ४ अनंग क्रीड़ा—काम सेवन के अंगों के अतिरिक्त अन्य अंगों से काम क्रीड़ा करना। ५-कामतीव्राभिनिवेष—काम सेवन की ज्यादा इच्छा रखना।

परिग्रहपरिमाणुव्रत के अतीचार—१-जमीन व मकान।

२–सोना चांदी। ३–गाय भैंस आदि तथा गेहूं जौ आदि। ४–दासी दास। ५–वस्त्र वर्तन आदि चीजों के परिमाण को घटा बढ़ा लेना। ये परिग्रह परिमाणुव्रत के पांच अतिचार हैं।

ऊपर पांच अणुव्रतों के अतीचार बताये। आगे शील-व्रतों के नाम तथा अतीचार आगे गिनाये जावेंगे।

व्रत और शील चारित्र के औपचारिक भेद हैं—यही बता रहे हैं—

चारित्रभेदान् श्रवणाः वदन्ति।
व्रतानि शीलानि तथापि तेषां।
चारित्रताऽशुद्धनयार्पणेन,
न वस्तुगत्येति वदन्ति विज्ञाः ॥१६५॥

आचार्यों ने व्रत और शीलों को चारित्र का भेद बताया है तो भी उनमें चारित्रपना अशुद्धनय की अपेक्षा से समझना चाहिए वास्तव में नहीं।

श्लोक वार्तिक में लिखा है:—

सच्चारित्रविकल्पेषु व्रतशीलेष्वशेषतः।
निरवद्यानुवृत्तिर्यानतिचारः स तेषु-वै ॥

अर्थात्—व्रत और शील ये सम्यक्चारित्र के भेद हैं। इनमें निर्दोष प्रवृत्ति करना यह शीलव्रतेष्वनतिचार है। अब प्रश्न यह होता है कि चारित्र तो निवृत्ति रूप होता है और ये व्रत और शील प्रवृत्ति रूप हैं फिर इनको चारित्र के भेद कैसे

माना जा सकता है। क्योंकि—"संसारकारणनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम्" अर्थात्—संसार के कारणों की निवृत्ति के प्रति उद्यत सम्यक्ज्ञानी पुरुष के कर्मों के ग्रहण करने वाली क्रिया का त्याग सम्यक्चारित्र कहलाता है। इस लिये वह संवर या निर्जरा का कारण है। और व्रत व शील इसके विरुद्ध हैं। वे कर्मों के आस्रव के कारण हैं। इसका उत्तर यह है कि व्रत और शीलों में जो चारित्रपना माना गया है वह अशुद्ध नय की अपेक्षा से है, औपचारिक प्रयोग किया है उसे ही वास्तविक न समझना चाहिये। व्रतों का अभ्यास करने वाला मनुष्य ही निवृत्ति प्रधान चारित्र को अच्छी तरह पालन कर सकता है। इस लिये मुख्य चारित्र का कारण होने से इन व्रतों को भी चारित्र मान लिया गया है।

अब उक्त कथन का सकारण समर्थन करते हैं :—

**शुभे प्रवृत्तिः खलु रूपमेषां,**
**सा शुक्लकर्मास्रवकारणं स्यात्।**
**हिंसाद्यपोहात्करुणादिवृत्तिः,**
**शुभस्वरूपा मलमस्ति वृत्ते ॥१६६॥**

शुभ कार्यों में प्रवृत्ति पुण्यकर्म के आस्रव का कारण है। हिंसादि पापों का त्याग करके दया आदि धारण करने रूप शुभ प्रवृत्ति चारित्र में दोष माना गया है।

हिंसा का त्याग करके दया का धारण करना, असत्य को

छोड़कर सत्य का पालन करना, चोरी न करके अचौर्य से अपना निर्वाह करना, अन्य काम सेवन के प्रकारों को छोड़कर स्व-स्त्री मात्र में सन्तोष रखना, बहुत से परिग्रह का त्याग करके परिमित परिग्रह से अपना काम चलाना ये श्रावक के पांच व्रत हैं। इनमें अशुभ कार्यों से निवृत्ति करके शुभ कार्यों में प्रवृत्ति ही प्रधान है। जैसे अहिंसा-व्रत में हिंसा अशुभ थी, उसे छोड़ दिया। दया शुभ थी, उसे अपना लिया। इसी प्रकार अन्य में भी समझना चाहिये। इस शुभ में प्रवृत्ति से पापकर्म तो नहीं आते, किन्तु पुण्यकर्म आने लगते हैं। पुण्य संसार में ही तो भ्रमावेगा अतः यह भी एक सच्चारित्र वाले व्यक्ति के दोष की बात हो जाती है, क्योंकि उसे तो संवर और निर्जरा के कारणों को ही अपनाना चाहिये। ऐसा करने पर ही उसका चारित्र निर्मल रह सकता है। इस लिये व्रत और शीलों को अशुद्ध नय की अपेक्षा ही चारित्र समझना चाहिये, वास्तव में नहीं।

शीलव्रत के भेद :—

यथा व्रतानां गृहि-योगिभेदात्,
भेदद्वयं चोक्तमथेह शीलं।
द्विभेदमुक्तं व्रतपालनार्थं,
विना तु शीलानि मुधा व्रतानि ॥१६७॥

जिस तरह गृहस्थ और मुनियों की अपेक्षा से व्रतों के दो भेद किये गये हैं :— अणुव्रत और महाव्रत। उसी प्रकार इन

व्रतों की रक्षा के लिए जो शील बतलाये हैं उनके भी दो भेद समझने चाहिये। गृहस्थों के अणुव्रतों की रक्षा के कारण शीलों के सात भेद हैं और मुनियों के महाव्रतों की रक्षा के कारणभूत शील के अठारह हजार भेद किये गये हैं। व्रतों के साथ इन शीलों के बिना व्रत सफल नहीं होते।

शुभ कार्यों में प्रवृत्ति और अशुभ कार्यों से निवृत्ति को व्रत कहते हैं। उन व्रतों के दो भेद हैं :— अणुव्रत और महाव्रत श्रावकों के व्रतों को अणुव्रत कहते हैं, क्योंकि उनका त्याग स्थूल या एकदेश होता है, अहिंसादि पापों का पूर्णरूप से त्याग करने में वे अहिंसादि का पूर्णरूप से त्याग कर देते हैं। गृहस्थों को अणुव्रतों के साथ तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन सात शीलों का पालन करना चाहिये। और मुनियों को महाव्रतों के अठारह हजार शील के भेदों का पालन करना चाहिये।

गुणव्रत और शिक्षाव्रत रूप शील के भेदों का वर्णन तो स्वयं ग्रन्थकार आगे करेंगे। यहां मुनियों के लिये जो शील के अठारह हजार भेद बताये हैं वे गिनाये जाते हैं—तीन योगों को तीन करणों के साथ गुणा करने से नव भेद हुए। इन नव भेदों को चार संज्ञाओं से गुणा करने पर छत्तीस भेद होते हैं। छत्तीस भेदों को पांच इन्द्रियों के भेदों से गुणा किया जाय तो १८० भेद होंगे। १८० को पृथिव्यादि दश कायों के साथ गुणा करने से १८०० होते हैं। फिर इनको दश धर्मों के साथ गुणा करने पर अठारह हजार भेद हो जाते हैं। ये अठारह हजार शील के

भेद हैं जो मुनियों को पालना चाहिये। श्रावक या गृहस्थी इनका पालन नहीं कर सकता, क्योंकि वह अणुव्रती है, महाव्रती नहीं।

अब गृहस्थों के पालने योग्य शील के भेदों का वर्णन किया जाता है।

द्विभेदमुक्तं गृहि-शीलमत्र.
शिक्षाव्रतं चाथ गुणव्रतं वा।
भेदास्त्रयस्तत्र गुणव्रतस्य,
शिक्षाव्रतं स्यात्तु चतुर्विभेदम् ॥१६८॥

गृहस्थों के शील के जो दो भेद ऊपर बताये हैं वे गुणव्रत और शिक्षाव्रत हैं। गुणव्रत के तीन भेद होते हैं और शिक्षाव्रत के चार।

दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत—ये गुणव्रत के भेद हैं। ज्यादा आरम्भ वगैरह न हो—इस अभिप्राय से दिशाओं में गमनागमन का नियम कर लेना कि मैं आजन्म अमुक नदी, पर्वत, शहर या अन्य किसी स्थान तक जाऊंगा—दिग्व्रत कहलाता है। दिग्व्रत में किये हुए परिमाण में से कुछ काल या दिनों के लिये और भी संकोच कर लेना देशव्रत कहलाता है। निष्प्रयोजन जो पापास्रव के कारण हैं उनका त्याग करना अनर्थदण्ड व्रत है। इस अनर्थ-दण्ड के पांच भेद होते हैं—१-पापोपदेश, २-हिंसादान, ३-अपध्यान, ४-दुःश्रुति और ५-प्रमादचर्या। हिंसादि पापों का उपदेश देना पापोपदेश है। विष, शस्त्र, अग्नि वगैरह

का दान करना हिंसादान है। दूसरों की बुराई, पराजय, अपमान आदि करने की भावना रखना अपध्यान है। राग-द्वेष हिंसादि पाप पूर्ण कथाओं को सुनना दुःश्रुति या अशुभश्रुति कहलाती है। विना प्रयोजन ही वृक्ष काटना, जमीन खोदना, जल बिखेरना आदि प्रमादचर्या नामक अनर्थ दण्ड है। इन पांचों का त्याग अनर्थदण्डव्रत कहलाता है।

सामायिक, प्रोपधोपवास, भोगोपभोग प-रिमाण और अतिथिसंविभाग- ये चार शिक्षाव्रत के भेद हैं। राग-द्वेप से रहित होकर साम्यभाव को धारण करते हुए आत्मचिन्तन करना सामायिक कहलाता है। वैसे तो सामायिक जब चाहे तब की जा सकती है लेकिन साधारणतया प्रातः, दोपहर और सायंकाल को सामायिक करने का विधान है। अमृतचन्द्राचार्यके आदेशा-नुसार प्रातःकाल और सायंकाल संध्या के समय सामायिक करना तो गृहस्थ के लिये आवश्यक है।

अशन पान भक्ष्य और लेह्य चारों प्रकार के आहारका त्याग कर आत्मचिन्तन करना 'उपवास' कहलाता है। प्रोपध अर्थात् पर्व के दिन उपवास करना प्रोपधोपवास है। उपवास के प्रथम दिन दोपहर को भोजन वगैरह आरम्भ से निवृत्त हो एकांत स्थान में जा कर राग-द्वेप रहित होता हुआ स्वाध्यायादि कार्यों में अपने को लगावे और उपवास के दिन तथा उपवास के दूसरे दिन दोपहर तक इसी तरह स्वाध्याय पूजा आदि आत्मोत्थान के कार्य करने चाहिये।

जो एक बार ही भोगने में आवे जैसे तांबूल भोजन आदि उन्हें भोग कहते हैं और जो वार वार भोगने में आवे—जैसे घोड़ा, मोटर, वस्त्र आदि उन्हें उपभोग या परिभोग कहते हैं। दोनों ही प्रकार के पदार्थों का यम नियम रूप अर्थात् जन्मपर्यन्त या कुछ काल के लिए परिमाण कर लेना कि अमुक अमुक पदार्थों के के अतिरिक्त सब का त्याग करता हूं—उपभोग-परिभोग या भोगोपभोगपरिमाण व्रत कहलाता है।

मुक्ति की प्राप्ति के लिये उद्यमी, रागद्वेषरहित और संयम को धारण करने वाले व्यक्ति 'अतिथि' कहलाते हैं। ऐसे व्यक्तियों को शुद्ध मन से आहार, पुस्तकादि उपकरण, औषधि और वसतिका का दान करना अतिथिसंविभागव्रत है।

उक्त सातों शीलव्रत गृहस्थ को धारण करने चाहिये।

आगे गुणव्रत और शिक्षाव्रत में क्या भेद है—यह बताते हैं—

गुणार्थमुपकारार्थं व्रतानां हि गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतं तु शिक्षायै अभ्यासाय व्रतं मतम् ॥१६६॥

गुणव्रत व्रतों के गुण अर्थात् उपकार करने के लिये होते हैं। अहिंसादि अणुव्रत जो गृहस्थ के लिये आवश्यक हैं—उनका अच्छी तरह पालन होते रहनेके लिये गुणव्रतोंकी अत्यन्त आवश्यकता है। इसी तरह शिक्षाव्रत शिक्षाके लिये अर्थात् व्रत पालनका अभ्यास करने के लिये होते हैं। जिस तरह एक नगर की रक्षा

के लिए कोट की आवश्यकता होती है उसी प्रकार अणुव्रतों का ठीक तौर से पालन के निमित्त तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत समझने चाहिए।

गुणव्रत और शिक्षाव्रत में और भी भेदः—

**यावज्जीविकमाहुः, प्रायो लोके गुणव्रतं विज्ञाः।**
**प्रतिदिनमभ्यसनीय–माहुः शिक्षाव्रतं किन्तु ॥१७०॥**

गुणव्रत प्रायः यावज्जीवन अर्थात् सम्पूर्ण जीवन काल के लिये धारण किया जाता है। इस लिये वह यमरूप जानना चाहिए। यहां देशव्रत को गुणव्रत का भेद न मान कर शिक्षाव्रत का भेद माना है और भोगोपभोग परिमाण व्रत को गुणव्रतों में लिया है—इसी लिए है। परन्तु शिक्षाव्रत प्रतिदिन अभ्यास करने के लिए है। यह शिक्षाव्रत प्रतिदिन ग्रहण किया जाता है अतः यह नियम रूप समझना चाहिए। इसी बात को आगे के पद्य में और स्पष्ट करते हैं:—

**अणुव्रतानीव गुणव्रतानि,**
**सकृद् गृहीतानि च जीवितान्तम्।**
**अभावनीयानि, परन्तु शिक्षा-**
**व्रतं समादेयमिहास्ति नित्यम् ॥१७१**

जिस प्रकार अणुव्रत एक वार ग्रहण कर लेने के पश्चात् जीवन पर्यन्त रहते हैं उसी तरह गुणव्रत भी एक वार ग्रहण कर लेने पर आजन्म बने रहते हैं। परन्तु शिक्षाव्रत प्रतिदिन ग्रहण करने के योग्य होते हैं।

शिक्षाव्रत का निरुक्त्यर्थ—

शिक्षा हि विद्याग्रहणं यथा स्यात् ,
शिक्षा-प्रधानं व्रतमेतदस्ति ।
निर्वाच्यमेतत् श्रुतबोधशिक्षा-
संग्राहकत्वेन ततो हि सार्थम् ॥१७२॥

शिक्षा का मतलब है विद्या ग्रहण करना । यह शिक्षाव्रत शिक्षा प्रधान है अतः श्रुतबोधशिक्षा का अर्थात् शास्त्र ज्ञान का संग्राहक समझते हुये इसका पालन करना चाहिए । इस व्रत को आचार्यों ने श्रुत-ज्ञान-लोचन माना है । इस लिये इसका नाम सार्थक है ।

शीलद्वय के भेदों में कुछ विरोध है, यह बताते हैं—

शीलद्वयस्यास्य मिथो विरोधः,
किञ्चित् समस्तीति विचार्यमेतत् ।
तद्देशकालाश्रितभिन्नताया,
विचारभेदस्य च दर्शकं हि ॥१७३॥

गुणव्रत और शिक्षाव्रत के भेदों में कुछ विरोध है । कई आचार्य गुणव्रत के तीन भेदों में देशव्रत को लेते हैं और कई भोगोपभोग परिमाणव्रत को ग्रहण करते हैं । इस तरह और भी विरोध है जो आगे दिखाया जाता है । यह विरोध देशकाल की भिन्नता के कारण उत्पन्न हुई परिस्थितियों ने अथवा आचार्योंके विचारभेद ने उत्पन्न किया है ।

इस सम्बन्ध में सर्व प्रथम आचार्य कुन्दकुन्द का मत बतलाते हैं—

दिग्विदिशोः परिमाण-
मनर्थदण्डव्रतं तथैव स्यात् ।
भोगोपभोग-परिमिति-
रेतत् त्रितयं हि गुणविरतिः ॥१७४॥

सामायिकं प्रोषधं ज्ञेयम्, पूजनं चातिथिस्तथा ।
सन्यासो जीवनान्ते च, एतत् शिक्षाव्रतं मतम् ॥१७५॥
कुन्दकुन्द-मते प्रोक्तम्, इदं शीलस्य सप्तकम् ।
उमास्वाति मतेनैतत्, नैव संगच्छते ध्रुवम् ॥१७६॥

दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत—ये तीन भेद गुणव्रत के हैं । सामायिक प्रोषधोपवास, अतिथि-संविभाग और सल्लेखता—ये चार भेद शिक्षाव्रत के हैं । ऐसा कुन्दकुन्द स्वामी का मत है । इन्होंने देशव्रतको पृथक् न मानकर दिग्व्रत ही माना है और उसकी एवज सल्लेखनाव्रत को शिक्षाव्रत के भेदों में गिनाया है । सल्लेखना का अर्थ सम्यक् प्रकार से काय व कषाय को क्षीण करना है । जब मनुष्य यह जान ले कि मेरा मरण निकट और अवश्यंभावी है तब शान्तभाव से शरीरादि से निर्मोही हो अन्तरंग में क्रोधादि कषायों को घटावे और बाह्य में आहारादि का अनुक्रम से त्याग कर अपने आत्म-ध्यान में लवलीन हो—यह सल्लेखना है ।

उक्त भेद कुन्दकुन्द स्वामी के कथनानुसार हैं लेकिन उमास्वाति आचार्य ऐसा नहीं मानते। उनका मत आगे दिखलाया जाता है:—

दिग्देशानर्थदण्डानां विरतिःसूत्रमते मता।
गुणव्रतमथाख्यातमेतत् शिक्षाव्रतं तथा।१७७।
समता-प्रोषधे भोगपरिभोगप्रमाणकम्।
अतिथेः पूजनं चैतत् सूत्रकारस्य सप्तकम्।१७८।

सूत्रकार उमास्वाति आचार्य के मतानुसार दिग्व्रत और देशव्रत अनर्थदण्डव्रत—ये तीन भेद गुणव्रत के हैं। सामायिक प्रोषधोपवास भोगपरिभोगपरिमाणव्रत और अतिथिसंविभाग—ये चार भेद शिक्षाव्रत के होते हैं। उक्त आचार्य के मतानुसार इस तरह शील के सात भेद समझने चाहिये। प्रायः इसी मत को बहुत से आचार्य मानते हैं।

पूज्यपादोऽकलंकश्च विद्यानन्दादयस्तथा।
तार्किका मतमेतद्धि मानयन्ति मनस्विनः।१७९।
सोमदेवश्च चामुण्ड-रायोऽमितगतिस्तथा।
हरिचन्द्रः कवीशानः सूत्रकारानुयायिनः।१८०।

उमास्वाति आचार्य ने जो शील के सात भेद माने हैं उन्हीं को सर्वार्थसिद्धि के कर्ता पूज्यपादाचार्य, राजवार्तिक के कर्ता भट्टाकलंकदेव और श्लोकवार्तिक के कर्ता विद्यानन्द स्वामी वगैरह

तार्किक विद्वान् भी मानते हैं। यशस्तिलकचंपू के कर्ता सोमदेव, चारित्रसारके कर्ता चामुण्डराय, धर्मपरीक्षाके कर्ता अमितगति और धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता महाकवि हरिचन्द्र भी इसी मत को मानते हैं।

देवसेनाचार्य का क्या मत है-यह बताते हैं :—

देवासेनादयः केचित् इदं शीलस्य सप्तकम्।
कुन्दकुन्दमुनि-प्रोक्तम् मानयन्ति महौजसः ।१८१।

भावसंग्रह के कर्ता देवसेन और रत्नमाला के कर्ता शिवकोटि आदि भी आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा कहे हुए जो शील के सात भेद हैं—उन्हीं को मानते हैं। इस तरह कुन्द-कुन्दाचार्य और उमास्वाति आचार्य इन दो ऋषियों के मतानुसार शील के सात भेद बताये हैं।

अब तीसरा मत बताते हैं :—

मतद्वयाद् भिन्नमतोऽस्ति स्वामि-
समन्तभद्रस्य यतो हि तेन।
अनर्थदण्डव्रत-दिग्व्रते च,
भोगोपभोगे-परिमा तथा च ॥१८२॥
गुणव्रतं स्वीकृतमस्ति, चैया-
व्रतं तथा स्यात्समतोपवासौ।
देशावकाशश्च समुक्तमेतत्,

शिक्षाव्रतं सम्मिलितं तु शीलम् ।१८३।

कुन्दकुन्द और उमास्वाति–इन दोनों आचार्यों के मतों से भिन्न एक तीसरा मत स्वामी समन्तभद्र का है। उन्होंने दिग्व्रत अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाण व्रत–इन तीन व्रतों को गुणव्रत में गिनाया है। देशावकाशिक, सामायिक, प्रोपधोपवास और वैयाव्रत इन चारों को शिक्षाव्रत माना है। देशावकाशिक देशव्रत का ही दूसरा नाम है और अतिथिसंविभागव्रत को ही वैयाव्रत कहते हैं। स्वामी समन्तभद्र उक्त प्रकार से शील के सात भेद मानते हैं।

समन्तभद्रस्य मतं हि चैतत्,
आशाधराद्याः विदुषोऽनुयान्ति ।
श्रीकार्तिकेयो मुनिरत्र तूर्यम्,
देशावकाशं समुवाच किन्तु ।१८४।

स्वामी समन्तभद्र के मतानुसार ही पंडित आशाधर जी वगैरह शील के सात भेद मानते हैं। श्रीकार्तिकेय मुनि भी ऐसा ही मानते हैं लेकिन उन्होंने देशावकाशिक को शिक्षाव्रत का पहला भेद न गिनाकर उसे चौथा भेद बताया है। इस लिये इनका भी एक चौथा भिन्न मत हो जाता है।

आगे वसुनन्दि आचार्य का मत बताते हैं :—

सूत्रकारमते प्रोक्त–मङ्गीकृत्य गुणव्रतम् ।
शिक्षाव्रतविधौ प्राप्तं भिन्नत्वं वसुनन्दिना ।१८५।

भोगे विरक्तिश्च तथोपभोग-
निवृत्तिरेवाऽतिथि-संविभागः।
सल्लेखना श्रीवसुनन्दिनैतत्,
शिक्षाव्रतं प्रोक्तमिहास्ति किन्तु।१८६।

वसुनन्दि आचार्य ने गुणव्रत के उन्हीं भेदों को माना है जिनको सूत्रकार उमास्वामी ने माना है। शिक्षाव्रत के भेदों में कुछ भिन्नता है। वसुनन्दि आचार्य ने भोग-विरक्ति, उपभोग-निवृत्ति; अतिथि संविभाग और सल्लेखना—ये चार शिक्षाव्रत के भेद माने हैं। भोगोपभोग परिमाण व्रत को एक न मान कर उसके दो टुकड़े कर दिये हैं।

श्री जिनसेनाचार्य का मत :—

श्रीजिनसेनाचार्याः दिग्देशानर्थदण्डविरतिं हि।
भोगोपभोगसंख्यां गुणव्रतं चापि कथयन्ति।१८७।
समतां प्रोषध-विधिं तथैवातिथिपूजनं।
सन्यासं मरणान्ते च शिक्षाव्रतचतुष्टयम्॥१८८॥

श्री जिनसेनाचार्य ने दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्ड-त्यागव्रत—ये गुणव्रत के तीन भेद माने हैं। इसके अतिरिक्त भोगोपभोग परिसंख्यान को भी इन्होंने गुणव्रत माना है। इससे इनका यह मत अन्य किसी भी आचार्य से नहीं मिलता। शिक्षाव्रतों में इनका मत आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी से मिलता है।

क्योंकि इन्होंने भी सामायिक, प्रोपधोपवास, अतिथिसंविभाग, और सल्लेखना इस तरह कुन्दकुन्द स्वामी के कहे हुए चार शिक्षाव्रत माने हैं।

श्वेताम्बर मतानुसार शीलव्रत के भेद :—

श्वेताम्बराः स्वामिसमन्तभद्र-
मतानुसारित्वमिह व्रजन्ति।
प्रायो हि ते रत्नकरंड-दिष्टा-
न्याहुर्हि शीलानि हि सप्त सप्त।१८६।

शीलव्रतों के सम्बन्ध में प्रायः सभी श्वेताम्बर आचार्यों का मत स्वामी समन्तभद्र के मत के अनुसार ही है। रत्नकरंड श्रावकाचार में जो शील के सात भेद बताये गये हैं प्रायः उन्हीं भेदों को श्वेताम्बर आचार्यों ने माना है।

शीलव्रतों के सम्बन्ध में भिन्न २ आचार्यों के भिन्न २ मत हैं—यह ऊपर दिखाया गया है लेकिन यह भेद होते हुए भी उद्देश्य सब का एक है—यही ग्रंथकार बताते हैं :—

अनेकधाशासनभिन्नताऽस्ति,
विभिन्नदृष्टि-ग्रथिता तथापि।
उद्देश्य--भेदोऽस्ति न तत्र कश्चित्,
समन्वयो ह्यत्र ततो विमृग्यः ॥१६०॥

आचार्यों ने भिन्न २ दृष्टि के अनुसार शीलव्रतों के भिन्न

भिन्न भेद बताये हैं। लेकिन वास्तव में उनके मुख्य उद्देश्य में कोई भेद नहीं है अतः सबका समन्वय हो जाता है।

भिन्न २ देश काल के अनुसार आचार्यों ने व्रतों के पालन के निमित्त भिन्न २ उपाय बताये हैं। शीलव्रत व्रतों के पालने के साधन हैं। जिस जमाने में जिस बात की रोक की आवश्यकता थी आचार्यों ने उधर ही रोक लगाई। सब आचार्यों का ध्यान केवल एक ही ओर था कि व्रत अच्छी तरह पल सकें। व्रत पालने में जिस बात की कमी का उनने अनुभव किया उसी की तरफ उनने ध्यान दिया और जिससे निरतिचार व्रत पल सकें उसी मार्ग को जनता के समक्ष रक्खा।

आगे बताते हैं कि अतिचार रहित व्रत पालने वाला ही धन्य है :—

विनातिचारं हि भजन्ति भव्याः,
शीलव्रतानि तु ये महान्तः।
धन्या ह्यतो लक्षणमुच्यतेऽत्रा-
ऽतिचारदोषस्य विवेचनार्थम् ।१६१।

जो भव्यपुरुष शील और व्रतों को अतिचार रहित धारण करते हैं वे महान् हैं—धन्य हैं। इस लिये 'अतिचार' दोष क्या है इस का विवेचन करने के लिये यहां अतिचार का लक्षण बताया जाता है।

अतिक्रान्तिं मनोशुद्धेः क्षतिं प्राहुर्महाधियः।

लंघनं शीलवृत्त्यास्तु व्यतिक्रान्तिं व्रतापहाम् ॥१६२॥
अतिचारं प्रवृत्तिञ्च विषयेष्वतिसक्तताम् ।
अनाचारं तु तत्रैव कृष्णास्रव--निबन्धनम् ॥१६३॥

आचार्यों ने संयम के सम्बन्ध में मानसिक शुद्धि न रहने को—मनमें विकार उत्पन्न होने को 'अतिक्रम' दोष बताया है और शीलरूपी खेत की बाड़ को उल्लंघन कर देने को 'व्यतिक्रम' दोष बताया है। विषयों में प्रवृत्ति कर लेना 'अतिचार' दोष है और विषयों में अत्यन्त आसक्त हो जाना 'अनाचार' है। यह अनाचार घोर पापास्रव का कारण है।

इस दृष्टान्त से यह चारों बातें समझ में आ जावेंगी कि किसी के खेत में घुस जाने का विचार करना अतिक्रम है। उस की बाड को उलांघ देना व्यतिक्रम है। खेत में घुस जाना अतिचार है और उसमें जा कर लोटना, उठना, बैठना आदि अनाचार है। इसी तरह जब व्रती अपने व्रतों के विरुद्ध आचरण करता है तो उक्त चारों दोष क्रम से लगते हैं।

आगे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं कि सातिचारव्रत व्यर्थ हैं—

मलोपगूढानि यथा हि लोके,
बीजानि न स्युः फलदानि तद्वत् ।
न सातिचाराण्युररीकृतानि,
व्रतानि नूनं फलदायकानि ॥१६४॥

जिस प्रकार मल लगे हुये बीजों को बोने से उनके कोई फल नहीं लगता—वे अंकुरित नहीं होते उसी प्रकार व्रतों में यदि अतिचार दोष लगता रहे तो उन व्रतों के धारण करने से कोई लाभ नहीं है अतिचार रहित होने पर ही व्रत अपना फल देंगे। अतः निर्दोष व्रत धारण करने चाहिए।

पांच अणुव्रतों के अतिचारों का उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं। यहां सात शीलव्रतों के अतिचारों का थोड़ा सा वर्णन कर दिया जाता है।

दिग्व्रत के अतिचार—१-उर्ध्वातिक्रम—परिमाण से अधिक पर्वतादि पर ऊंचा जाना, २-अधोतिक्रम—नीचे कूप वगैरह में जाना, ३-तिर्यक् अतिक्रम—गुफा सुरंग आदि में तिरछा जाना, ४-क्षेत्र वृद्धि—परिमाण से अधिक क्षेत्र बढ़ा लेना, ५-स्मृत्यंतराधान—की हुई मर्यादा को भूल जाना। ये पांच दिग्व्रत के अतिचार हैं।

देशव्रत के अतिचार—१-आनयन—मर्यादा से बाहर की वस्तुओं को मंगाना, २-प्रेष्यप्रयोग—मर्यादा से बाहर किसी को भेजना, ३-शब्दानुपात—मर्यादा से बाहर रहने वाले को शब्द खांसी आदि से अपना अभिप्राय समझा देना. ४-रूपानुपात—इशारे वगैरह से या अपना रूप दिखा कर समझा देना, ५-पुद्गल-क्षेप—मर्यादा से बाहर कंकर वगैरह फेंक कर संकेत करना।

अनर्थदण्डव्रत के अतिचार—१-कंदर्प—रागादि भावों से प्रेरित हो कर भंड वचन बोलना, २-कौत्कुच्य—भंड वचन

बोलना तथा काय से निन्दनीय क्रिया करना, ३-मौखर्य—निरर्थक ज्यादा बोलना, ४-असमीद्याधिकरण - प्रयोजन के विना विचारे अधिक से अधिक प्रवर्त्तन करना, कार्यकरना ५-उपभोगपरिभोगानर्थक्य— जरूरत से ज्यादा भोगोपभोग के पदार्थों का संग्रह करना।

सामायिकव्रत के अतिचार—१-सामायिक करते समय मन, वचन और काय को अन्यथा चलायमान करना ये तीन दुःप्रणिधान तथा चौथा अनादर—उत्साह रहित हो कर अनादर से सामायिक करना और पांचवां स्मृत्यनुपस्थान—अर्थात् सामायिक में एकाग्रता-विना, चित्त की व्यग्रता से पाठ, सामायिक-क्रिया आदि भूल जाना; ये सामायिक व्रत के अतिचार हैं।

प्रोषधोपवासव्रतके अतिचार—विना देखी और विना साफ की हुई भूमि पर टट्टी पेशाब वगैरह करना—अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग नाम का अतीचार है, २-विना देखे विना साफ किये पूजन की सामग्री को ग्रहण करना तथा वस्त्र-पात्र वगैरह को घसीटना—अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान है। विना देखी विना साफ की हुई भूमि पर विस्तरे वगैरह करना—अत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपकरण नाम का अतीचार है। क्षुधातृषादि की वाधाओं से धर्मादि कार्यों में निरुत्साह प्रवृत्ति करना अनादर नाम का अतिचार है। प्रोपधोपवास के दिन करने योग्य क्रियाओं को भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान या स्मृत्यनुपसार नाम का पांचवां अतिचार है।

उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत के अतिचार—१-सचित्ताहार सजीव पुष्प फल वगैरह खाना, २-सचित्त सम्बन्धाहार—सचित्त वस्तु से छूए हुए पदार्थों का आहार करना, ३-सचित्तसंमिश्राहार सचित्त पदार्थ से मिले हुए पदार्थका भक्षण करना; ४-अभिषव—पुष्टिकारक कामोद्दीपक आहार करना, ५-दुष्पक्वाहार—कच्चा देर में हजम होने वाला भोजन करना।

अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार—१-सचित्त निक्षेप—सचित्त कमल पत्रादि में रख कर आहार देना २-सचित्तापिधान सचित्त पदार्थों से ढका हुआ आहार देना, ३-परव्यपदेश—अन्य की वस्तु दान करना, ४-मात्सर्य—अनादर से तथा अन्य दातार से ईर्ष्या करके दान देना; ५-कालातिक्रम—दान देने के समय को उलांघ कर असमय में दान देना।

सल्लेखनाव्रत के अतिचार—कई आचार्यों ने सल्लेखना व्रत को शील व्रतों में लिया है अतः उसके अतिचारों का वर्णन कर दिया जाता है:—

१-जीविताशंसा—सल्लेखना धारण करने के पश्चात् जीवित रहने की आशा करना, २-मरणाशंसा—रोगादि से पीड़ित होकर मरने की आशा करना, ३-मित्रानुराग—मित्रों को याद करना, ४-सुखानुबंध पहले भोगे हुए सुखों का याद करना, ५-निदान—'मरकर अगले जन्म सुख मिले' ऐसी वांछा करना।

उक्त शीलव्रतों के अतिचार हैं। संक्षेप से इनका वर्णन किया गया है। विशद वर्णन अन्यत्र देखना चाहिए।

क्या इतने ही अतिचार हैं या इनसे ज्यादा ? इसका उत्तर—

**शीलव्रतानामतिचारसंख्या,**

**तत्त्वार्थसूत्रे गदितास्ति या तु ।**

**संकेतमात्रं खलु सास्ति मन्ये,**

**न वस्तुतोस्ति गणना हि तेषाम् ॥१६५॥**

तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वामी आचार्य ने जो व्रतों एवं शीलों के अतिचार बताये हैं—जैसा कि हम ऊपर टीका में वर्णन कर आये हैं—ये केवल संकेत मात्र हैं । सच पूछा जाय तो अतिचार अनन्त हैं—उनकी कोई संख्या नहीं । जहां व्रतों के विरुद्ध लेशमात्र भी प्रवृत्ति या क्रिया की; वहां दोष आ जाता है । अतः उन दोषों की कोई संख्या नहीं ।

इस प्रकार अतिचार रहित शील और व्रतों का पालन करना शील व्रतेष्वनतिचार नाम की तीसरी भावना है और उसका संक्षेप से वर्णन समाप्त हुआ ।

अब अभीक्ष्ण-ज्ञानपयोग नाम की चौथी भावना का वर्णन करते हैं :—

**ज्ञानस्वभावः खलु ह्येष आत्मा,**

**तत्प्राप्तिरस्याऽच्युतिरस्ति नूनम् ।**

**ततः स्वभावाप्तिमिहाभिकांक्षन्,**

**अभीक्ष्णबोधाय मनो विदध्यात् ।१६६।**

यह आत्मा ज्ञानस्वभाव वाला है–ज्ञान ही इसका निजरूप है अतः ज्ञान की प्राप्ति होना आत्मा की अभ्युति अर्थात् उत्थान है। इस लिये आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति की इच्छा करते हुए निरन्तर इधर ही मन लगाना चाहिये। ज्ञान प्राप्ति के लिये सतत प्रयत्नशील रहना–उधर ही मनोयोग लगाना 'अभीक्ष्ण–ज्ञानोपयोग' कहलाता है।

ज्ञान आत्मा का धर्म है। ज्ञान की प्राप्ति ही आत्मा का साक्षात्कार है। बिना ज्ञान के आत्मा नेत्र–विहीन ही रहता है। शारीरिक नेत्रों के रहने पर भी वह अन्धा ही कहलाता है। जिस प्रकार अन्धा मनुष्य किसी पदार्थ को नहीं देख सकता उसी प्रकार ज्ञान–विहीन व्यक्ति कर्तव्याकर्तव्य को नहीं देख सकता। सत् असत् का निर्णय नहीं कर सकता, हेय और अहेय को नहीं पहचानता। वह अपने को भी नहीं जानता। अतः अपने को जानने के लिये आवश्यक है कि मनुष्य ज्ञान प्राप्त करे।

आगे के पद्यों में कुछ ज्ञान की महिमा का वर्णन करते हैं:-

ज्ञानादृते निर्वृतिरस्ति नैव,<br>
न लौकिकोत्थानमिदं विना स्यात्।<br>
निरन्तराभ्यासवशात् ततोऽयम्,<br>
ज्ञानोपयोगः खलु वर्द्धनीयः॥१६७॥

ज्ञान के बिना संसार से छुटकारा नहीं मिल सकता और न लौकिक उत्थान ही हो सकता है। अतः निरन्तर अभ्यास से

ज्ञानोपयोग बढ़ाना चाहिये।

स्व और पर की पहचान हो जाने पर, भेद-विज्ञान होने पर ही मनुष्य संसार से छुटकारा पा सकता है और स्व-पर की पहिचान होती है ज्ञान से। अतः ज्ञान ही मनुष्य को कर्मजाल से छुड़ाने में समर्थ है। सांसारिक जितनी भी बातें प्राप्त होती हैं या जो कुछ उन्नति की जाती है वह ज्ञान ही का माहात्म्य है। विना ज्ञान के कुछ नहीं। यह कहावत ठीक ही है कि 'ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः' अर्थात् ज्ञान के विना मनुष्य पशु-तुल्य है अथवा 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' यानी-ज्ञानके समान कोई पवित्र वस्तु नहीं है।

विवेकज्योतिरित्यस्मिन् शीर्षके मत्कृतौ बहु।
अन्यत्रोक्तं ततस्तस्मात् गृहीतव्यं मनीषिभिः ।१६८।

ग्रन्थकार कह रहे हैं कि मैंने 'विवेक-ज्योति'+ नामक शीर्षक में ज्ञान के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा है इस लिए पाठकों को वहां से जानना चाहिये।

आगे ज्ञान के भेदों का वर्णन करते हैं :—

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिश्चित्तपर्ययः।
तथैव केवल-ज्ञानं ज्ञानानि प्रभुशासने ।१६९।

जिनेन्द्रदेव के शासन में ज्ञान पांच प्रकार के बताये गये हैं—१ मतिज्ञान, २ श्रुतज्ञान, ३ अवधिज्ञान, ४ मनःपर्यय ज्ञान

+जैनबन्धु नामक पाक्षिक पत्र में।

और ५ केवलज्ञान। इनमें आदि के तीन ज्ञान मिथ्या भी होते हैं। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो ज्ञान परोक्ष हैं जो कि प्रत्येक प्राणी के होते हैं तथा अवधि मनःपर्यय और केवल ये तीन ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान हैं।

पांच इन्द्रिय और मन से जो पदार्थ का ग्रहण होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं। इस मतिज्ञान के चार भेद हैं—अवग्रह ईहा, अवाय और धारणा। विषय और विषयी के सम्बन्ध होनेके अनन्तर समयमें जो पदार्थका प्रथम ग्रहण होता है उसे 'अवग्रह' कहते हैं। अवग्रह द्वारा गृहीत पदार्थ को विशेष जानने के लिये जो इच्छा रूप ज्ञान होता है वह 'ईहाज्ञान' है। ईहा द्वारा जाने पदार्थ में निश्चय रूप ज्ञान को 'अवाय' कहते हैं। जाने हुए पदार्थ को पीछे न भूलना 'धारणा' है।

मतिज्ञान के स्थूल रूप से चार तथा विशदतया तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं :— पांच इन्द्रिय और मन इन छह को अवग्रहादि चार भेदों से गुणा करने पर चौबीस भेद हुए। अवग्रह के दो भेद हैं ×अर्थावग्रह तथा +व्यञ्जनावग्रह की अपेक्षा से तो पांच इन्द्रिय और मन ये छह भेद हो गये लेकिन व्यञ्जनावग्रह चक्षु और मन से नहीं होता अतः उसके चार भेद इन चौबीस भेदों में जोड़ने से अट्ठाईस होगये। इन अट्ठाईस भेदों को अवग्रहादि ज्ञान के विषयभूत पदार्थों के निम्नलिखित

---

×अप्राप्त अर्थ के ग्रहण करने को अर्थावग्रह कहते हैं।

+प्राप्त अर्थ के ग्रहण करने को व्यञ्जनावग्रह कहते हैं।

बारह भेदों के साथ गुणा करने से मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं। वे बारह भेद ये हैं—१ बहु, २ अल्प, ३ बहुविध ४ एकविध, ५ क्षिप्र, ६ अक्षिप्र, ७ अनिसृत, ८ निसृत, ९ अनुक्त १० उक्त, ११ अध्रुव, १२ ध्रुव।

यह मतिज्ञान अव्रत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर क्षीण-कषाय पर्यन्त होता है। मतिज्ञान से विपरीतज्ञान को कुमतिज्ञान कहते हैं और यह मिथ्यात्व तथा सासादन गुणस्थान में होता है।

श्रुतज्ञान—शब्द और लिंग (धूमादि) के द्वारा जो एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। अथवा मतिज्ञान के विषयभूत पदार्थ से भिन्न पदार्थ के ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है। वैसे तो श्रुतज्ञान के भेद असंख्यातलोक प्रमाण हैं लेकिन स्थूल रूप से दो भेद हैं—एक अंगवाह्य दूसरा अंगप्रविष्ट। अंगवाह्य श्रुत के स्थूलरूप से चौदह भेद हैं तथा उनके भेद प्रभेद होने से अनेक भेद हैं। वे चौदह भेद यह हैं—१ सामायिक २ चतुर्विंशस्तवन ३ वन्दना ४ प्रतिक्रमण ५ वैनयिक ६ कृतिकर्म ७ दशवैकालिक ८ उत्तराध्ययन ९ कल्पव्यवहार १० कल्पाकल्प ११ महाकल्प १२ पुण्डरीक १३ महापुण्डरीक १४ निषिद्धिका।

अंगप्रविष्ट श्रुत के बारह भेद हैं—१ आचार २ सूत्रकृत ३ स्थान ४ समवाय ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति ६ ज्ञातृधर्म कथा ७ उपासका ध्ययन ८ अन्तकृतदश ९ अनुत्तरोपपादिकदश १० प्रश्नव्याकरण

११ विपाक सूत्र १२ दृष्टिवाद। बारहवें भेद दृष्टिवाद के पांच भेद होते हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग पूर्वगत और चूलिका। इनमें पूर्वगत के चौदह भेद हैं जिन्हें कि चौदह पूर्व कहा जाता है—वे ये हैं—१ उत्पाद पूर्व २ अग्रायणीय ३ वीर्यानुवाद ४ अस्तिनास्तिप्रवाद ५ ज्ञानप्रवाद ६ सत्यप्रवाद ७ आत्मप्रवाद ८ प्रत्याख्याननामधेय ६ विद्यानुप्रवाद ६ कल्याणनामधेय १० प्राणावाय ११ क्रिया विशाल और १२ लोकविन्दुसार। इस तरह स्थूल रूप से श्रुतज्ञान के ये भेद हैं बाकी इनके भी अनेक भेद प्रभेद हैं जिनका कि वर्णन गोम्मटसार तथा पट्खण्डागम की धवला टीकादि से जानना चाहिये। सब से कम ज्ञान सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में होता है और ज्ञान की चरम सीमा केवलियों में है।

वर्तमान में जितने भी शास्त्र हैं वे सब अंगबाह्य में ही हैं। हां केवल दो ग्रन्थ ऐसे हैं जिन्हें अंग प्रविष्ट कहा जाता है वे पट्खंडागम और कषाय प्राभृत हैं। दिगम्बर मान्यता के अनुसार इन दो ग्रंथराजों के अतिरिक्त कुछ भी अंगप्रविष्ट श्रुतज्ञान का अंश अवशिष्ट नहीं है। श्वेताम्बराचार्यों का कथन है कि उनके यहां ग्यारह अंग मौजूद हैं और एक भेद दृष्टिवाद का वर्णन उपलब्ध नहीं है। दिगम्बर मान्यतानुसार दृष्टिवाद ही उक्त दोनों ग्रन्थों का उद्गमस्थान है अतः दृष्टिवाद उपलब्ध है बाकी अंगों का लोप होगया।

उक्त श्रुतज्ञान मतिज्ञान की तरह ही सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

से लेकर क्षीण कषाय पर्यन्त होता है। श्रुतज्ञानसे विपरीत ज्ञान को कुश्रुतज्ञान कहते हैं। और यह मिथ्यात्व तथा सासादन गुणस्थान में होता है।

अवधिज्ञान—सम्पूर्ण मूर्त पदार्थों को साक्षात्कार करने वाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं। इस प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद हैं—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। नारकादि भवों की अपेक्षा से अवधि ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर जो अवधि ज्ञान हो वह भवप्रत्ययावधि तथा सम्यग्दर्शनादि कारणों की अपेक्षा से क्षयोपशम होने पर जो अवधिज्ञान हो उसे गुणप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं।

भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव नारकी तथा तीर्थंकरों के होता है और यह ज्ञान शरीर के सम्पूर्ण अंगों से उत्पन्न होता है। गुण-प्रत्यय अवधिज्ञान पर्याप्त मनुष्य तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों के भी होता है लेकिन सम्पूर्ण शरीर से नहीं। गुण प्रत्यय अवधि-ज्ञान नाभि के ऊपर होने वाले पद्म वज्र शंख कलश आदि शुभ चिन्हों से उत्पन्न होता है। उसी जगह के आत्म-प्रदेशों में अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर यह अवधिज्ञान होता है।

भवप्रत्यय अवधि देशावधि ही होता है और गुण प्रत्यय अवधि देशावधि परमावधि तथा सर्वावधि तीनों तरहका होता है। जघन्य गुणप्रत्यय देशावधि ज्ञान संयत तथा असंयत दोनों तरह के मनुष्य एवं तिर्यञ्चों के होता है लेकिन उत्कृष्टज्ञान संयतों के

ही होता है। सर्वावधि तथा परमावधिज्ञान महाव्रती तथा चरम-शरीरियों के होता है।

अवधिज्ञान द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से रूपी पदार्थों को ही जानता है अतः वह सीमाज्ञान कहलाता है। मति और श्रुतज्ञान की तरह यह अवधिज्ञान भी अव्रत सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ तक होता है। इससे विपरीत ज्ञान को कुअवधि अथवा विभंगावधि ज्ञान कहते हैं। यह मिथ्यात्व और सासादन गुणस्थान में होता है। पर्याप्तकों के ही विभंग ज्ञान होता है अपर्याप्तकों के नहीं।

मनःपर्यय ज्ञान—जिसका कभी चिन्तवन किया हो, या आगे कभी किया जायगा वर्तमान में आधा चिन्तवन किया जा रहा हो-इस प्रकार अनेक भेदस्वरूप दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जो ज्ञान जानता है-उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान मनुष्य क्षेत्र में ही होता है बाहर नहीं। इस ज्ञान के दो भेद हैं—एक ऋजुमति और दूसरा विपुलमति। सरलतया मन वचन काय के द्वारा किया गया परकीय मनोगत पदार्थ को ग्रहण करने वाला ऋजुमति है। सरल मन वचन काय की अपेक्षा से उसके तीन भेद हैं। विपुलमति सरल और कुटिल दोनों ही तरह से मन वचन काय के द्वारा किये गये परकीय-मनोगत पदार्थ को जानता है अतः उसके छह भेद हैं।

ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान विपुलमति मनःपर्ययज्ञान में आपस में विशुद्धि और अप्रतिपात की अपेक्षा से विशेषता है।

अर्थात् ऋजुमति से विपुलमति द्रव्यक्षेत्रकाल और भावकी अपेक्षा ज्यादा विशुद्ध है। ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान वाला क्षपक और उपशामक दोनों श्रेणियों पर चढ़ता है अतः उपशम श्रेणी में चढ़ने के कारण यह ज्ञान पतनशील है। परन्तु विपुलमति क्षपक श्रेणी वाले को ही होता है अतः अप्रतिपाती है।

मनःपर्ययज्ञान प्रमत्त संयत गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त होता है किन्तु प्रत्येक प्राणी के नहीं होता। जो ऋद्धिप्राप्त हैं तथा वर्धमान और विशिष्ट चारित्र को धारण करने वाले हैं उनके होता है।

ऋजुमति का क्षेत्र दो तीन कोस से लेकर सात आठ कोस तक है, पर विपुलमति का कम से कम आठ नव योजन तथा ज्यादा से ज्यादा मनुष्य-लोक प्रमाण है। ऋजुमति दो तीन भव से लेकर सात आठ भव तक की बात जानता है पर विपुलमति आठ नव भव से लेकर असंख्यात भव तक की बात जानता है।

केवलज्ञान—सब द्रव्यों एवं उनकी पर्यायों को सम्पूर्णरूप से प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान की चरम सीमा है। इसे केवलज्ञान या सम्पूर्ण अथवा समग्रज्ञान भी कहते हैं। केवलज्ञान सयोग केवली, अयोग केवली तथा सिद्ध इन तीनों स्थानोंमें होता है। यह ज्ञान अकेला ही आत्मामें रहता है और ज्ञानों की सहायता नहीं चाहता क्योंकि सम्पूर्ण है और प्रत्यक्ष ज्ञान है।

एक आत्मा में एक साथ ज्यादा से ज्यादा चार ज्ञान तथा

कम से कम एक ज्ञान रहता है। यदि एक हो तो केवलज्ञान। दो हो तो मति और श्रुतज्ञान। तीन-मतिश्रुत और अवधि। चार-मतिश्रुत अवधि और मनःपर्यय ज्ञान। पांच ज्ञान एक आत्मा में एक साथ कभी नहीं होते।

आगे श्रुतज्ञान की महिमा का वर्णन करते हैं :—

सर्वेष्वेतेषु पूज्यार्हं श्रुतज्ञानं विशेषतः।
अनेनैव हि बोधेन यतः कर्मक्षयो मतः ॥२००॥

पांचों ज्ञानों में श्रुतज्ञान ही विशेषतः पूजनीय है क्योंकि इसी ज्ञान के द्वारा कर्मों का नाश होता है। जीवादि पदार्थों का ज्ञान कराने वाला या वस्तु के धर्म का प्रतिपादन करने वाला यह ज्ञान है। ज्ञान की अपेक्षा केवलज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों बराबर हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष रूप से पदार्थों एवं उनकी पर्यायों को जानता है। और श्रुतज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से परोक्ष रूप से जानता है। अमूर्त पदार्थ तथा उनकी अर्थ पर्यायों और सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंशों में श्रुतज्ञान की स्पष्ट प्रवृत्ति जरा नहीं होती; बाकी सम्पूर्ण द्रव्यों एवं पर्यायों को यह ज्ञान विषय करता है।

शुक्लध्यानेन नाशोऽस्ति कर्मणामिति विश्रुतम्।
परं तच्छ्रुतमेवास्ति नेतरज्ज्ञानरूपता ॥२०१॥

शुक्लध्यान से कर्मों का नाश होता है-यह बात निश्चित है पर वह शुक्लध्यान श्रुतज्ञान रूप ही है। श्रुतज्ञान द्वारा पदार्थों

का निश्चित जानना ही शुक्लध्यान कहलाता है। शुक्लध्यान के चार विकल्प या भेद होते हैं। उनमें प्रारम्भ के दो भेद श्रुत-केवली के ही होते हैं अन्य के नहीं।

श्रुतज्ञानस्यपर्यायाः निश्चलाः शुक्लमिष्यते।
कर्मघ्नं श्रुतमेवातः तस्माज् ज्ञानं श्रुतं महत् ।२०२।

श्रुतज्ञान की निश्चल पर्यायों को शुक्ल कहते हैं। शुक्ल-ध्यान कर्मों का नाश करने वाला है। अतः श्रुतज्ञान भी कर्मों का नाश करने वाला है। इस लिये श्रुतज्ञान की महिमा अपरम्पार है—वह महान् ज्ञान है। उसका चिन्तवन करना निरन्तर उसकी प्राप्ति का अभ्यास करना कल्याणकारी है। ज्ञान की प्राप्ति के जितने साधन हैं उनको सुलभ बनाना, स्वयं उस मार्ग में प्रविष्ट होना तथा संसार को ज्ञान प्राप्ति के मार्ग में लगाना ही ज्ञानियों का कर्तव्य है।

कर्मों के क्षय करने में श्रुत ज्ञात की समता करने वाला कोई भी ज्ञान नहीं है। इस दृष्टि से श्रुतज्ञान केवलज्ञान से भी बढ़ कर है। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग में ज्ञान शब्द का अर्थ श्रुत-ज्ञान है। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग का अर्थ है जीवन के प्रत्येक क्षण में श्रुतज्ञान का उपयोग करना। उसके आदेशानुसार अपने जीवन को बनाना। खाते पीते चलते बैठते यह देखते रहना कि हमारा जीवन ज्ञान से अनुपयुक्त तो नहीं है। अगर मनुष्य जीवन में ज्ञान का उपयोग करना सीख जाय तो वह

सांसारिक सुख के साधनों के बिना भी अपने जीवन को सुखी और शान्त बना सकता है। जहां ज्ञान है वहां मुक्ति है स्वर्ग है सब कुछ है। ज्ञान के अभाव में सब कुछ बीभत्स, यातनामय और दुःख पूर्ण है। इस लिए अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग की असाधारण महत्ता समझ कर इसे पाने के प्रयत्न में लगे रहना चाहिए। यही इस भावना का सार है।

इस प्रकार संक्षेप में अभीक्ष्णज्ञानोपयोग भावना का वर्णन समाप्त हुआ।

आगे संवेग भावना का वर्णन करते हैं:—

द्विविधं दुःखमस्त्यत्र, संसारे व्यसनार्णवे।
एतस्मिन्नित्यभीरुत्वं, संवेगः संप्रचक्ष्यते ॥२०३॥
शारीरं मानसं दुःखं, बहुभेदं हि संसृतौ।
अस्माद्धि भीरुता नित्यं श्रेयसी मुक्तिसाधिनी ॥२०४॥

इस दुःखों के समुद्र संसारमें शारीरिक और मानसिक दो प्रकार के दुःख भरे हुए हैं। इन दुःखोंसे नित्य डरते रहना 'संवेग' कहलाता है। संवेग परम्परा मुक्ति का साधक है।

संसार में जितने भी दुःख हैं वे सब या तो शारीरिक हो सकते हैं अथवा मानसिक। इनके अतिरिक्त और कोई दुःख नहीं। शारीरिक दुःख वे हैं जो शरीर में या शरीरकृत हों—जैसे वात-पित्तादि प्रकोपजनित ज्वर, अतिसार आदि रोग, दैवकृत शारीरिक उल्कापात आदि दुःख, जरायुज, अण्डज, स्वेदज ( जूं

वगैरह ) उद्भिज्ज ( वृक्ष वगैरह ) जीवों द्वारा किये हुए दुःख। मानसिक दुःख वे हैं जो मनमें हों—जैसे प्रिय वस्तु न मिलने से, अप्रिय वस्तु के मिल जाने से उत्पन्न होने वाले दुःख। इनके अतिरिक्त और भी जितने दुःख हैं वे सब उक्त दोनों भेदों में अन्तर्भाव हो जाते हैं। दुःखों के तीन भेद आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इस तरह भी किये जा सकते हैं। आध्यात्मिक दुःख ज्वर, अतिसार आदि रोग तथा इष्टानिष्ट वियोग संयोग आदि हैं। आधिभौतिक दुःख मनुष्य पशु पक्षी आदि द्वारा किये हुए दुःख हैं। आधिदैविक दुःख बिजली गिरना, अति वृष्टि, भूकम्प आदि हैं। परन्तु यह सब दुःख शारीरिक और मानसिक दोनों दुःखों में आ जाते हैं।

उक्त दुःखों से संसार व्याप्त है। इन दुःखों से छुटकारे की इच्छा करने वाले प्राणी का कर्तव्य है कि वह इनसे सदा डरता रहे। जब वह इनसे भय खाने लग जायगा तो इन दुःखों को उत्पन्न करने वाले विचार तथा पदार्थों से दूर रहेगा और धर्म, आत्मोत्थान में लग जायगा। यही मार्ग कल्याणकारी है और मुक्तिदायक है। अतः अपना कल्याण चाहने वालों को संवेग भावना अंगीकार करना चाहिए।

वियोगसंयोग–परंपराऽत्र,
दद्राति दुःखं बहुशोऽङ्गजेभ्यः।
किञ्चिन्न नित्यं खलु विद्यतेऽत्र,

अस्माद्धि भीरुत्वमतः प्रशस्तम् ॥२०५॥

इस संसारमें संयोग वियोग आदि की परम्परा कभी नहीं टूटती। प्राणियों को अनिष्ट संयोग और इष्ट वियोग बहुत दुःख देते हैं। इस संसार में कुछ भी नित्य नहीं है। ऐसे दुःखपूर्ण और अनित्य संसार से डरना ही अच्छा है।

अनादिकाल से संसार में संयोग और वियोग की परंपरा लगी हुई है। कभी किसी पदार्थ का संयोग होता है तो कभी वियोग। इन दोनों में कोई स्थायी या नित्य नहीं है। यह जीव ही रागादि भावों से अभिभूत हो पागल सा बना हुआ संयोग-वियोग में सुख दुःख की कल्पना करता है। संसार-लिप्त प्राणी यह नहीं सोचता कि जिस पदार्थ के संयोग से सुख की कल्पना करता है वह वास्तव में सुख नहीं; दुःख ही है। पुत्र की प्राप्ति स्त्री की प्राप्ति आदि सुख आत्मा के सुख नहीं। इनसे अपना अहित ही होता है। ये सुख नित्य नहीं अनित्य हैं। वियोग से दुःख की कल्पना करना भी भूल है। सच तो यह है कि संसार का प्रत्येक पदार्थ हमारे लिए दुःखदायी है। संसार ही दुःख है। स्त्री, पुत्र, धन आदि का मोह तृष्णा और परिग्रह को बढ़ाने वाला है, आत्मा की हानि करने वाला है। अतः सद्-ज्ञानी जीवों का कर्तव्य यह है कि वह इन दुःखों से डरे और ऐन्द्रियिक विषयों से विरक्त होकर आत्मा में रमण करे। यही संवेग भावना है।

इस प्रकार संवेग भावना का संक्षेप में वर्णन समाप्त हुआ।

आगे शक्तितस्त्याग भावना का वर्णन करते हैं:—

त्यागो विसर्गः किल वस्तूनां वै,
यथास्वशक्ति प्रतिपादितोऽद्धा ।
ज्ञानादिभेदेन चतुर्विधोयम् ,
तिस्रो भिदा वाऽस्य महद्भिरुक्ता ॥२०६॥

वास्तव में अपनी शक्ति के अनुसार पदार्थों का छोड़ना, देना ही त्याग है । यह त्याग ज्ञानदान, आहारदान, अभयदान और औषधिदान के भेद से चार प्रकार का है । अथवा कुछ आचार्यों ने आहारदान और औषधिदान को एक ही दान गिना कर आहारदान, ज्ञानदान और अभयदान—ये तीन भेद माने हैं ।

इन भेदों का स्वरूप बताते हैं ।

ज्ञानदान—

सर्वेषु भेदेषु महत्प्रदिष्टम् ,
ज्ञानस्य दानं, खलु तत्प्रदाना—
दन्यानि दानानि भवन्ति पूर्णा —
न्यस्मात्प्रयत्नोऽत्र सदा विधेयः ॥२०७॥

दान के सब भेदों में ज्ञानदान ही महान बताया गया है । इस दान के बराबर कोई जगत् का उपकार करने वाला दान नहीं है । अतः ज्ञानदान करने से अवशिष्ट जो दान हैं वे भी दिये हुए ही हो जाते हैं । ज्ञान दान की महिमा इतनी बड़ी है कि

जिसने ज्ञान दान किया उसने बाकी बचे हुए तीन दान भी दे दिये। इस लिए जगत् को ज्ञान देने में सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

प्रश्न—सब दानों में ज्ञानदान ही उत्तम क्यों कहा?

उत्तर—ज्ञानदान में जो विशेषता है वह अवशिष्ट तीनों दानों में नहीं है। वे तीनों दान केवल शारीरिक बाधाओं को दूर करने के लिए हैं लेकिन ज्ञानदान आत्मिक विकास करता है। जीव को वस्तु का स्वरूप बता कर उसे मुक्ति मार्ग में लगाता है। आहारदान एक बार जीव की क्षुधा को मिटाता है। औषधि-दान रोगों से प्राणी को बचाता है। अभयदान एक जन्म के लिए जीव को निर्भय बनाता है लेकिन ज्ञानदान हमेशा के लिए जीव को निर्भय और स्वात्मस्थित बनाता है। अन्य दान एक जन्म या एक भव के लिए सहायक हैं जबकि ज्ञानदान सदा के लिए जीव की वास्तविक सहायता करता है। ज्ञान प्राप्त होने पर ही जीव अन्य दानों को समझ सकता है और ज्ञान पूर्वक दान ही वास्तविक दान है। अतः ज्ञानदान सब से उत्तम है।

ज्ञान की महिमा—

ज्ञानेन सर्वं ह्युपभोगयोग्यम्,
संप्राप्यते वस्तु विना श्रमेण।
ज्ञानेन संसारसुखापवर्गौ,
ज्ञानं परं मंगलमस्ति लोके ॥२०८॥

उपभोग के सारे पदार्थ ज्ञान के द्वारा बिना परिश्रम के या थोड़े परिश्रम से ही प्राप्त हो जाते हैं। ज्ञानी जीव को सब पदार्थ सुलभ हैं। ज्ञान से ही संसार के सारे सुख तथा अपवर्ग-मुक्ति प्राप्त होती है। अतः संसार में ज्ञान बहुत कल्याण करने वाला है।

अगम्यं गम्यमस्मात्स्यात्, अप्राप्यं प्राप्यमेव वा।
अदृश्यं दृश्यमेवाशु, ज्ञानादेव प्रजायते ॥२०६॥

जो बात अगम्य है- समझ में नहीं आती, ज्ञान के प्रताप से सहज में ही समझ में आ जाती है। जो पदार्थ अप्राप्य हैं, नहीं प्राप्त होते, वे ज्ञान से प्राप्त हो जाते हैं। जो चीजें अदृश्य हैं, नहीं दिखतीं, वे सब ज्ञान के द्वारा जल्दी ही दृश्य हो जाती हैं हैं। सच तो यह है कि ज्ञान एक तीसरा नेत्र है जिससे दोनों आंखों से न दिखने वाले पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं। आत्मदर्शन ज्ञान के द्वारा ही होता है। इस ज्ञान की महिमा अनन्त है। इसी लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि—

प्रदत्तं धीमता येन ज्ञानं तेन महात्मना।
सर्वं प्रदत्तमेवास्ति न किञ्चित् व्यतिरिच्यते ॥२१०॥

जिस बुद्धिमान ने ज्ञानदान किया उस महात्मा ने सब कुछ दिया; कुछ भी बाकी नहीं बचा। ज्ञान से संसार और मुक्ति का भान होता है। आहार वगैरह जो तीन दान हैं—उनके देने से क्या लाभ हैं, वे क्यों देने चाहिए, किसको देने चाहिए, किस

तरह और कब देने चाहिए ? आदि बातें ज्ञान ही के द्वारा जानी जाती हैं। अतः ज्ञान सब दानों में प्रधान दान है।

ये ज्ञानिनस्ते किल बोध-दानम्,
कुर्वन्तु ये संत्यबुधाः कथं ते ?
कर्तुं क्षमाः ज्ञानमय-प्रदान-
मेतन्न वाच्यं खलु तेऽपि यस्मात् ॥२११॥
प्रदाय शास्त्राण्यथ पुस्तकानि,
विद्यार्थिवर्गाय समुत्सुकाय ।
विद्यालयेषु प्रचुरं धनं वा,
वितीर्य कुर्वन्तु हि दानमेतत् ॥२१२॥

शंका—जो ज्ञानी मनुष्य हैं वे ज्ञान-दान करें लेकिन जो ज्ञानवान नहीं हैं—वे किस तरह ज्ञानदान कर सकते हैं ?

उत्तर—ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि जो व्यक्ति संसार को ज्ञान नहीं दे सकते वे उन विद्यार्थियों को जो उत्सुक हैं, जिन को जरूरत है, शास्त्र और पुस्तकें देकर अथवा विद्यालयों में खूब धन देकर ज्ञानदान कर सकते हैं। ज्ञानदान का अर्थ यही नहीं है कि पठन-पाठन से या उपदेशादि देकर लोगोंको ज्ञान सिखाया जाय बल्कि ज्ञान दान में जिन जिन बातों की सहायता की जरूरत है वह भी ज्ञान दान ही है। असहाय और निर्धन विद्यार्थियों को पुस्तकें वगैरह दिलाना, विद्यालय खुलवाना, विद्यालय बनवाना,

विद्यालयों में धन देना, जो व्यक्ति दुनियां को ज्ञान सिखाता है उसे उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रुपया पैसा देना आदि ज्ञान के लिए धन तथा अन्य प्रकार की सहायता देना ज्ञानदान ही है।

आहारदान—

'अन्नं प्राणा' इति ख्यातां विज्ञायाऽऽहारवश्यताम् ।
प्राणिनां, तत्प्रदानं हि कुर्याद् धीमाननाकुलः ॥२१३॥

अन्न ही जीव के प्राण हैं। बिना अन्न के जीव जीवित नहीं रह सकता। संसार में जीवित रहने के लिए—शरीर को कायम रखने के लिए भोजन आवश्यक है। इस लिए यह प्रसिद्ध है कि 'अन्नं वै प्राणाः'। प्रत्येक प्राणी भोजन के आधीन है—इसका अनुभव करके निश्चल भाव से आहार दान देना चाहिए।

दान पात्र को देना चाहिए। पात्र को भक्तिपूर्वक दिया हुआ दान सफल दान है। आहारदान करते समय यह जान लेने की आवश्यकता है कि हम जिसको दान कर रहे हैं वह दान लेने का अधिकारी है या नहीं। संड-मुसंडों को या ढोंगियों को दिया हुआ आहार कभी पुण्य बन्ध नहीं करा सकता है। आचार्यों ने पात्रदान का उपदेश दिया है। पात्रों के उत्तम मध्यम और जघन्य भेद करते हुये उन्होंने महाव्रती दिगम्बर मुनि को उत्तम पात्र, सम्यग्दृष्टि अणुव्रती को मध्यम और व्रत रहित सम्यग्दृष्टि

को जघन्य पात्र बताया है। जो व्रती है परन्तु सम्यग्दृष्टि नहीं वह कुपात्र है। और जो न व्रती है और न सम्यग्दृष्टि वह अपात्र है।

प्रश्न—भूखे को भोजन कराना क्या आहारदान नहीं ?

उत्तर—जो पात्र हैं उन्हें भक्तिपूर्वक पात्र बुद्धि से दान करना चाहिए। परन्तु जो कुपात्र अथवा अपात्र हैं उन्हें भक्ति-पूर्वक या पात्र बुद्धि से दान देना मना है। अगर वे करुणापात्र हों तो उन्हें करुणा बुद्धि से आहारादि दान करना मना नहीं। जिन्हें भोजन की आवश्यकता है जो गरीब असहाय और अनाथ हैं उन्हें सहानुभूति से करुणापूर्वक भोजन वगैरह देना आहार-दान ही है।

अभयदानः—

**जीवनं प्रियमेवास्ति सर्वेषां प्राणिनां ननु।**
**यस्तद्दानं करोत्यत्र पूजनीयः स मानवैः ॥२१४॥**

जिस तरह मुझे अपना जीवन प्यारा है उसी प्रकार संसार के सभी प्राणियों को अपना अपना जीवन प्यारा है। इस लिए जो प्राणियों को जीवन का दान करता है वह मनुष्यों द्वारा पूजनीय है।

छह काय के जीवों की दया पालना, यथा शक्ति हिंसा से बचना गृहस्थों के लिये अभयदान है। अभय का अर्थ है किसी के जीवन को निर्भय बना देना। पूर्ण अभयदानी केवली होते हैं। जब दानान्तराय कर्म का सर्वथा नाश हो जाता है तो आत्मा

में क्षायिक दानशक्ति प्रकट होती है और उस महाशक्ति का मुख्य कार्य है संसार के शरणागत जीवों को अभय दान करना। यत्नाचार पूर्वक चलना फिरना, बैठना उठना, किसी भी कार्य में प्रमाद रहित प्रवृत्ति करना अभयदान कहलाता है। क्योंकि ऐसा करने से मनुष्य बहुत सी हिंसा से बच जाता है। जिसका जीवन अहिंसक है वही अभयदान का वास्तविक दाता है। हमें दूसरे के जीवन का मूल्य भी उतना ही समझना चाहिए जितना हम अपने जीवन का मूल्य समझते हैं। सर्व जीवों में अभय का प्रयोग करने वाला सब का प्रिय बन जाता है। और तो क्या उसे हिंसक पशु भी मित्र की तरह वर्ताव करने लग जाते हैं।

औषधदान—

**रोगादिजामाकुलतामवेक्ष्य,**
**स्वीयामसौ ह्यौषधदानयोगम् ।**
**करोति नो चेन्न च तेन बुद्धम्,**
**'धर्मस्य तत्वं करुणाप्रयुक्तम्' ॥२१५॥**

रोगादिकों से उत्पन्न होने वाली अपनी आकुलता को देख कर भी जो व्यक्ति औषधदान नहीं करता उसने नहीं जाना कि 'धर्म का तत्व करुणाप्रयुक्त होता है।'

जिस प्रकार अपने रोग होने से आकुलता और दुःख होता है उसी प्रकार संसार के प्रत्येक रोगी के होता है। हमें उस वक्त औषधि की आवश्यकता होती है उसी तरह अन्य रोगी को भी

होती है। अतः रोगी को औषध देना मनुष्य का कर्तव्य है। जो व्यक्ति इस बात का अनुभव नहीं करता वह यह नहीं जानता कि धर्म अहिंसामय होता है।

प्रश्न—जो वैद्य है वह औषधि दे सकता है लेकिन जो वैद्य नहीं वह औषधि कैसे दे?

उत्तर—जो वैद्य नहीं वह वैद्य से लाकर रोगी को औषधि दे सकता है। जहां गरीबों को मुफ्त औषधि दी जाती है वहां धन देकर औषधदान में हाथ बटा सकता है। औषधालय आदि खुलवाना उनमें धन देना, उनके कार्यों में सहयोग देना भी औषधिदान है।

इस प्रकार चार प्रकार के दानों का वर्णन किया। कुछ आचार्यों ने दान के उक्त चार भेद न मान कर कुछ अन्य भेद माने हैं लेकिन मतलब सभी आचार्यों का एक ही है। श्री जिन-सेन स्वामी ने दान के निम्नलिखित चार भेद माने हैं:—

१—दयादान—अर्थात् दीन प्राणियों पर कृपा कर उनको निर्भय बनाना।

२—पात्रदान—योग्य पात्रों को भक्तिपूर्वक आहार पुस्तकादि देना।

३—समदान—परस्पर श्रावक को धन, भोजन, कन्या आदि दान करना।

४—अन्वयदान—अपने वंश को स्थिर रखने के लिए धन कुटुम्ब वगैरह को पुत्र के अधीन करना।

स्वामी समन्तभद्रके मतानुसार दान के चार भेद ये हैं:— १–आहार, २–औषध, ३–उपकरण और ४–आवास। आहार व औषध का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। पीछी कमण्डलु पुस्तक आदि धर्म साधन की सामग्रियों को देना उपकरण दान है। साधु व त्यागी श्रावक आदि के लिए धर्मशाला मठ आदि बनवाना आवास दान है।

इस तरह दान के भेदों में कुछ भिन्नता होने पर भी किसी भी आचार्य के माने हुए चारों भेदों में सब दान के भेद अन्तर्गत हो जाते हैं। देशकालानुसार भिन्न भिन्न आचार्यों ने भिन्न २ भेद बताये हैं बाकी अभिप्राय सभी का एक है।

अपनी शक्ति के अनुसार पदार्थों का त्याग करना शक्तितस्त्याग भावना कहलाती है।

इस प्रकार शक्तितस्त्याग भावना का संक्षिप्त वर्णन समाप्त हुआ।

अब शक्तितस्तप भावना का वर्णन करते हैं :—

कर्मक्षयार्थं खलु तप्यते यत्,
तपः स्मृतं तद्व्यथवा निरोधः।
वांछापिशाच्या अपवर्ग–हेतुः,
तस्य प्रदिष्टा बहवो विभेदाः ।२१६।

कर्मों के नाश करने के लिये जो तपा जाता है उसे तप कहते हैं। अथवा वांछा पिशाचिनी का निरोध करना—मन और इन्द्रियों को वश में रखना–तप कहलाता है। यह तप मुक्ति का कारण है। इस तप के बहुत से भेद हैं जिनका कि आगे वर्णन किया जाता है।

तप के भेद :—

अभ्यन्तरं वाह्यमिति प्रदिष्टं,
भेदद्वयं श्रीमहावीरशास्त्रे।
वाह्यं तपोऽभ्यन्तरकारणं चेत्,
तदा तपस्त्वं गदितं तु तस्य ।२१७।

भगवान महावीर के आगम में अभ्यन्तर और वाह्य ये तप के दो भेद कहे गये हैं। वाह्य तप यदि अभ्यन्तर तप का कारण वनता है तभी उसका तप–पना है। वाह्यतप की सार्थकता तभी है जब कि वह अभ्यन्तर तप का कारण वने। यदि उपवासादि वाह्य तप आत्मोत्थान में–अभ्यन्तर तप में सहायक न हो आत्मा की चित्तवृत्तियों को चंचल होने से न रोके और आत्मा को ध्यान की ओर अग्रसर न करे तो वह वाह्यतप तप नहीं कहला सकता। वह व्यर्थ है। इस सम्बन्ध में और लिखते हैं :—

तपो हि तपनादुक्तं, मानसेन्द्रिययोस्तथा।
चित्तशुद्धिं विना प्रोक्तं मुधा सर्वं तपो यतः ॥२१८॥

मन और इन्द्रियों को तपाने से तप होता है। जब चित्त–

वृत्तियां शुद्ध नहीं हैं तब सारा तप बेकार है। चित्तवृत्तियों की चञ्चलता को नष्ट करना ही इन्द्रिय और मन को तपाना है। जब चित्तशुद्धि नहीं हुई—विकार दूर नहीं हुए तब मन व इन्द्रियों को वश में करना क्या हुआ? और जब मन व इन्द्रियां वश में नहीं तो फिर तप क्या?

अभ्यन्तर और बाह्य तप के भेद :—

**प्रायश्चित्तादिषड्भेदमान्तरं तप उच्यते।**
**रसत्यागादयो बाह्यं षट् सर्वे द्वादश स्मृताः ॥२१६॥**

१ प्रायश्चित्त २ विनय ३ वैयावृत्य ४ व्युत्सर्ग ५ स्वाध्याय और ६ ध्यान ये छह अभ्यन्तर तप के भेद हैं। १ रसपरित्याग २ अनशन ३ अवमौदर्य ४ विविक्तशय्यासन ५ कायक्लेश और ६ व्रतपरिसंख्यान ये छह बाह्य तप के भेद हैं। इस तरह तप के सम्पूर्ण बारह भेद होते हैं।

बाह्यतप के जो छह भेद बताये उनमें पहला भेद बताया है रसत्याग—इसका अर्थ है—छहों रसों+ का यथासाध्य त्याग करना २ अनशन अर्थात्—स्वाद्य खाद्य पेय और लेह्य इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना। ३ अवमौदर्य—आहार को घटाना या भूख से थोड़ा आहार लेना अवमौदर्य है। ४ विविक्तशय्यासन—जीवों की रक्षार्थ शुद्ध व एकान्त स्थान में सोना बैठना। ५ कायक्लेश शरीर से ममत्वभाव को छोड़कर अनेक प्रकार के प्रतिमायोग धारण करना, मौन रहना और शीतादि की बाधा सहना।

+ घी, तेल, दूध, दही, खांड, नमक ये छह रस हैं।

६ व्रतपरिसंख्यान–इच्छा निरोध के लिए अमुक वस्तु का ही भोजन करूंगा, अमुक रीति से मिलेगा तो करूंगा इत्यादि प्रतिज्ञाएं करना। ये सब बाह्य तप हैं और इनका धारण करना अभ्यन्तर तप के पालन में सुविधा हो, वे ठीक धारण किये जासकें आदि के निमित्त मात्र हैं।

अभ्यन्तर छह तपों में पहला तप 'प्रायश्चित' है। प्रायश्चित का अर्थ है प्रमाद से लगे हुए दोषों को प्रायश्चित से दूर करना। इस तप से व्रतों में शुद्धता आती है। इसके नौ भेद हैं—१ आलोचन–अर्थात् गुरू के पास जाकर अपने लगे हुए दोषों को +आकंपितादि दोष न लगाते हुए निवेदन करना।

---

+आकम्पितादि दोष दश तरह के हैं। १ कुछ देने से गुरु मेरा प्रायश्चित हलका कर देंगे अतः गुरु को कुछ दे देना फिर दोष बताना। २–गुरु से यह कहना कि मैं दुर्बल हूं मुझे कोई छोटा सा प्रायश्चित देदो। ३ जिस दोष को किसी ने न देखा हो उसे छिपा लेना और प्रकट दोष को कह देना। ४ आलस्यवश सारा दोष न बताकर मोटी २ बात कह देना। ५ महादोष को न बताकर नित्यक्रमानुसार प्रमदाचार का निवेदन कर देना। ६ गुरु को अपना दोष न बताकर यों ही पूछ कर कि अमुक दोष का प्रायश्चित क्या है–प्रायश्चित करना। ७ कोलाहल के समय दोष प्रकट करना जो कोई न सुन सके। ८ गुरु के द्वारा प्रायश्चित बता देने पर भी उसमें शंका करता हुआ दूसरे से पूछना। ९ किसी बहाने से अपने समान साधु से पूछ कर दोषका प्रायश्चित कर लेना। १० अपने दोष के समान दूसरे के दोषों की आलोचना सुन कर उनके प्रायश्चित को स्वयं भी कर लेना और अपना दोष प्रकट न करना। ये दश दोष हैं।

२ प्रतिक्रमण–जो दोष मुझे लगे हैं वे मिथ्या हों, व्यर्थ हों इस प्रकार पाप हो जाने पर पछतावे को वचनों द्वारा प्रकट करना। ३ तदुभय अर्थात्–प्रबल पाप होने पर आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करना। ४ विवेक–सदोष अन्न पान आदि का विभाग करना अर्थात्–उनका त्याग करना। ५ व्युत्सर्ग–कायोत्सर्ग आदि करना। ६ तप–दोष का प्रायश्चित करने के लिये रसत्याग अनशन आदि करना। ७ छेद–दिन महीना वर्ष आदि कुछ समय दीक्षा के दिनों में से कम कर देना। ८ परिहार–कुछ समय के लिये संघ में से निकाल देना। ९ उपस्थापना अर्थात्–महान् दोष लग जाने पर सम्पूर्ण दीक्षा का छेदन कर फिर नवीनरूप से दीक्षा देना। ये प्रायश्चित तप के नौ भेद हैं।

अभ्यन्तर तप का दूसरा भेद है–विनय। इस विनयतप के चार भेद हैं। १ दर्शनविनय–निःशंकादि गुणों से युक्त सम्यग्दर्शन को धारण करना। २ ज्ञानविनय–सम्यग्ज्ञान का अभ्यास करना उसका स्मरण करना। ३ चारित्रविनय–चारित्ररूप भाव रखना, चारित्र को धारण करने के लिए तत्पर होना और चारित्र को धारण करना। उपचार विनय–अपने पूज्य आचार्यादिकों को प्रत्यक्ष होने पर नमस्कारादि करना तथा परोक्ष में भक्तिपूर्वक उनका गुणानुवाद करना। ये विनयतप के चार भेद हैं।

अभ्यन्तर तप का तीसरा भेद है—वैयावृत्य। वैयावृत्य का अर्थ है पूज्य जीवों की भक्तिपूर्वक सेवा करना या किसी के कष्ट को दूर करना। १–आचार्य, २–उपाध्याय, ३–साधु, ४–

शिष्य, ५-ग्लान ( रोगी मुनि ) ६- तपस्वी, ७-कुल, ( शिष्य समूह ), ८-संघ ( ऋषि, मुनि, यति, अनगार इन चारों के समूह को संघ कहते हैं ), ९-गण ( वृद्ध साधु समूह ), १०-मनोज्ञ ( लोक में जिसको बड़ा मानें )—ये साधुओं के दश भेद हैं। इन दश प्रकार के साधुओं की सेवा करने को वैयावृत्य कहते हैं। जिनकी वैयावृत्य की जाय वे साधु दश प्रकार के हैं अतः वैयावृत्य के भी दश भेद हैं।

अभ्यन्तर तप का चौथा भेद है—व्युत्सर्ग। व्युत्सर्ग का अर्थ है त्याग करना, छोड़ना। इसके दो भेद हैं—बाह्योपधि-त्याग और अभ्यन्तरोपधित्याग। दूसरे पदार्थ में शक्ति पैदा करने वाले पदार्थ को उपधि कहते हैं। धन-धान्य वगैरह बाह्य उपधि है और रागद्वेषादि भाव अभ्यन्तर उपधि हैं। इन दोनों उपधियों का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है।

अभ्यन्तर तप का पांचवां भेद है स्वाध्याय। स्वाध्याय का अर्थ है अपना अध्ययन। इसके पांच भेद हैं—१-वाचना—ग्रन्थ पढ़ाना, अर्थ बताना अथवा दोनों पढ़ाना। २-पृच्छना—वाचना द्वारा अध्ययन किये हुये में शंका दूर करने के लिए प्रश्न करना। ३-अनुप्रेक्षा—तत्वज्ञान का मन में बार २ चिन्तवन करना। ४-आम्नाय—पढ़े हुए को घोकना ( बार बार बोलना ) या दोहराना। ५-धर्मोपदेश—पूर्व पुरुषों की अथवा धर्म की कथाओं का सुनना।

अभ्यन्तर तपका छठा भेद है—ध्यान। समस्त चिंताओं

को हटाकर आत्मचिन्तन या धर्म में एकाग्र रहना ध्यान है। ध्यान का अधिक से अधिक काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। ध्यान चार प्रकार का है—१-आर्तध्यान, २-रौद्रध्यान, ३-धर्म्यध्यान और ४-शुक्ल ध्यान। आदि के दोनों ध्यान हेय हैं और संसार की वृद्धि के कारण हैं। अन्त के दो ध्यान ही उत्तम हैं और मोक्ष के कारण हैं और वे ही तप में गर्भित हैं।

आर्तध्यान के चार भेद हैं—१-इष्ट वियोगज, २-अनिष्ट संयोगज, ३-वेदनाजनित, ४-निदान ( अप्राप्त वस्तु के प्राप्त होने की आकांक्षा रखना )। यह आर्तध्यान छठे प्रमत्त संयम गुण-स्थान वालों तक के होता है। विशेषता यह है कि पांचवें गुण-स्थान तक चारों आर्तध्यान होते हैं और छठे में निदान नाम का आर्तध्यान नहीं होता बाकी तीनों होते हैं।

रौद्रध्यान के भी चार भेद हैं—१-हिंसानंद—क्रोधादि कषाय पूर्वक हिंसा करने में रत होना। २-मृषानंद—झूठ बोलने में रत होना। ३-स्तेयानन्द—चोरी करने में रत होना। और ४-विषय संरक्षणानन्द—विषयों की रक्षा करने में मगन होना। ये रौद्रध्यान पांचवें गुणस्थान तक होता है।

धर्म्यध्यान के भी चार भेद हैं—१-आज्ञाविचय—मन्द बुद्धि होने पर उपदेशदाता के अभाव में सूक्ष्म पदार्थों के संबंध में आगम आज्ञा मान कर दृढ़ श्रद्धान करना, २-अपाय विचय—कुमार्ग में लगे हुए प्राणी किस तरह सुमार्ग में लगें, संसारी जीवों का दुःख दूर कैसे हो, सच्चे धर्म का प्रचार कैसे हो ? आदि

चिन्तवन करना 'अपाय विचय' धर्म्यध्यान है। ३-विपाक विचय-द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार कर्मों के फल का चिन्तवन करना 'विपाक विचय' धर्म्यध्यान है। ४-संस्थान विचय—लोक के आकार स्थिति विस्तार आदि का चिन्तवन करना 'संस्थान विचय' धर्म्यध्यान है। यह धर्म्यध्यान चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक वाले जीवों के होता है।

ध्यान का चौथा भेद है—शुक्लध्यान। संज्वलन कषाय के अत्यन्त मन्द पड़ जाने पर जीव जब श्रेणी चढ़ता है तब उसके परिणाम बहुत एकाग्र होते हैं और इसी को 'शुक्लध्यान' कहा जाता है। इस शुक्लध्यान के चार भेद हैं—१-पृथक्त्ववितर्क-वीचार— योगी जब द्रव्यों के भिन्न भिन्न भेदों को, गुण और पर्यायों को मन, वचन, काय के योगों द्वारा चिन्तवन करता है तब यह पृथक्त्ववितर्कवीचार नाम का शुक्लध्यान होता है। इस ध्यान में परिवर्तन होता रहता है। योगी कभी द्रव्य के स्वरूप का ध्यान करता है तो कभी गुण और पर्याय का। कभी किसी श्रुतवचन को लेकर ध्यान करता है और कभी दूसरे श्रुत वचन को ध्यान का आधार बनाता है। इसी प्रकार कभी मनोयोग से से ध्यान करता है तो कभी काय और वचन योग से। मतलब यह है कि यह ध्यान दृढ़ नहीं शिथिल है।

शुक्लध्यान का दूसरा भेद है-एकत्ववितर्क-जब पृथक्त्व-वितर्कवीचार में दृढ़ता आ जाती है तब वीचार अर्थात् परिवर्तन नष्ट हो जाता है और ध्यान में एकत्व आ जाता है। इसी एकता को 'एकत्ववितर्क' कहते हैं।

उक्त दोनों शुक्लध्यान श्रुतकेवलियों के होते हैं।

शुक्लध्यान का तीसरा भेद है—सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती। इस तीसरे शुक्लध्यान में न तो वितर्क अर्थात् श्रुतज्ञान का आलंबन रहता है और न वीचार अर्थात् परिवर्तन-संक्रमण रहता है। योगों में केवल एक काय योग ही होता है। इस तीसरे ध्यान का अर्थ है योगनिरोध। जो अतिसूक्ष्म काय योग बचा है उसका इस ध्यान से नाश होता है और नाश होते ही चौथा शुक्लध्यान 'व्युपरत क्रिया निवर्ति' प्रकट हो जाता है। योग प्रवृत्ति बिलकुल नष्ट हो जाती है और उसके नष्ट होने के बाद ही औदारिक तैजस और कार्माण ये तीन शरीर भी पांच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण काल में नष्ट हो जाते हैं। तीसरा और चौथा शुक्लध्यान क्रमशः सयोग केवली और अयोग केवलियों के होता है। इस चौथे ध्यान में परम निर्जरा होती है।

आगे ध्यान को साक्षात् मुक्ति का कारण बताते हुए लिखते हैं कि—

अभ्यन्तरेष्वेषु तपः सुध्यानम्,
साक्षात् विमुक्तेः खलु हेतुरस्ति।
अन्यानि सर्वाणि तपांसि नूनम्,
परंपरा मुक्तिनिबन्धनानि ॥२२०॥

अभ्यन्तर तपों में जो ध्यान नाम का तप बताया गया है वह साक्षात् मुक्ति का कारण है। ध्यान से निर्जरा होती है और

सब कर्मों की निर्जरा हो जाना ही मुक्ति है। तप के जो अन्य ग्यारह भेद बताये गये हैं वे परम्परा से मुक्ति के कारण हैं। इन तपों के करने से मुक्ति प्राप्त नहीं होती। मुक्ति प्राप्त होती है कर्मों की सम्पूर्ण निर्जरा से और निर्जरा होती है ध्यान से। अतः ध्यान ही मुक्ति का साक्षात्कारण है।

इस प्रकार संक्षेप से तप भावना का वर्णन समाप्त हुआ।

अब साधुसमाधि नामक भावना का वर्णन करते हैं :—

साध्नोति यः स्वस्य परस्य कार्यम्,
लोकोत्तरं तं खलु वच्मि साधुम्।
समर्थनं तस्य समाधिरुक्तः,
कल्याण-हेतुर्भवभीति-भाजाम् ॥२२१॥

जो अपना और पर का लोकोत्तर अर्थात् आत्मोत्थान का कार्य सिद्ध करता है उसको मैं साधु कहता हूं। उस साधु का समर्थन करना 'साधु समाधि' है और यह संसार से डरे हुए व्यक्तियों के कल्याण का कारण है।

सांसारिक कार्यों को करने वाले तो बहुत से मनुष्य मिल जाते हैं। पर ऐसे विरले ही होते हैं जो अपना और पर का उत्थान करने वाले हों, आत्मिक उन्नति ही जिनका प्रधान कर्तव्य हो और अपने एवं संसार के आत्माओं को उन्नत बनाने में संलग्न हों। यहां ऐसे व्यक्ति को ही 'साधु' कहते हैं। ऐसे साधु का

समर्थन करना 'साधु समाधि' है। समर्थन करने का अर्थ है उन को अपने कार्य में संलग्न रखना। अर्थात् विघ्नों को दूर करते रहना जिससे वे अपने कार्य में लगे रहें।

आगे साधु समाधि का दूसरे प्रकार से लक्षण करते हुये लिखते हैं कि:—

प्रत्यूहयोगे किल योगिनां वै,
ह्युपस्थिते तस्य निराकृतिर्या।
साधोः समाधिः खलु सम्प्रदिष्टः,
हितङ्कराः सन्ति हि साधवोऽत्र ॥२२२॥

योगियों के विघ्न उपस्थित हो जाने पर उनका निराकरण करना साधु समाधि कहलाती है। क्योंकि वे योगी संसार का कल्याण करने वाले हैं।

योगियों के द्वारा ही संसार का उद्धार होता है अतः योगियों के यदि कोई विघ्न उपस्थित हो जावे तो उसे दूर करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है।

अनेकरत्नादिसमर्थवस्तु-
सुसंचितं ह्यत्र यथा गृहं स्यात्।
संरक्षणीयं च तथैव साधुः,
सुरक्षणीयो ननु विघ्नजालात् ॥२२३॥

जिस प्रकार अनेक बहुमूल्य रत्नादि पदार्थ जहां रखे हुए

हों—ऐसे घर की रक्षा करना आवश्यक है उसी प्रकार विघ्न समूहों से साधु भी रक्षा करने योग्य है। साधु में भी सम्यग्दर्शनादि रत्न रहते हैं। विघ्न और उपसर्गों से साधु की रक्षा करना तथा यदि उपसर्ग और विघ्न आ गये हैं तो उन्हें निराकरण करना ही 'साधु समाधि' है। विघ्न और उपसर्ग बहुत हैं। उनको गिनाया नहीं जा सकता है। स्थूल रूप से यदि हम जानना चाहें तो उपसर्गों के चार भेद कर सकते हैं १—मनुष्यकृत, २—देवकृत, ३—तिर्यञ्चकृत और ४—अचेतनकृत। स्वाभाविक अवस्था को बदल देना ही उपसर्ग माना जाता है। साधु ध्यान में बैठे हों तो उनपर कुछ डाल देना, उनको दुःख पहुंचाना, मारना आदि उपसर्ग हैं। मनुष्य देव और तिर्यञ्चों के द्वारा किये हुए उपसर्गों को मनुष्य देव और तिर्यञ्चकृत उपसर्ग कहा जायगा। यदि अचेतन पदार्थों से उपसर्ग हो जैसे मेंह बरसना, पत्थर बरसना, आग लग जाना आदि तो वे अचेतनकृत उपसर्ग होंगे।

प्रश्न—आपने उपसर्ग का लक्षण किया कि स्वाभाविक अवस्था को बदल देना। मुनि के पास अग्नि जला देना; उनके सोने के लिए घास बिछा देना आदि बातें भी स्वाभाविक दशा बदलती हैं। क्या ऐसा करना भी उपसर्ग है?

उत्तर—हां, अवश्य। जिस प्रकार यति को कपड़े से ढक देना या उन्हें कपड़े उढ़ा देना उनके लिए उपसर्ग है उसी प्रकार उनके पास अग्नि जलाना, सोने के लिए घास बिछा देना आदि

बातें भी उपसर्ग हैं। यदि किसी ने वे उपसर्ग किये हों तो उन्हें दूर कर देना चाहिए। यति शीतादि परिषह के विजेता होते हैं। इसी लिए शीतकाल में नदी का किनारा उनके लिए ध्यान करने का स्थान है और ग्रीष्म में पहाड़ की चोटी।

परोपकारैकधना हि सन्तः,
स्वार्थं विना ये हि हितैषिणस्ते।
सम्राड्दरिद्रेषु समाः त्रिकालं,
कथं न रक्ष्या बहुभिः प्रयत्नैः ।२२४।

साधु के परोपकार ही धन है। संसार का उपकार करना ही उनका काम है। वे विना स्वार्थ भावना के जगत् के हितैषी होते हैं। राजा और रंक को वे हमेशाह एक सा समझते हैं। अमुक राजा है, अमुक दरिद्री है; अमुक बड़ा है, अमुक छोटा है आदि भेद वे नहीं जानते। उनके लिये दोनों बराबर हैं। राजप्रसाद और गरीब की झोंपड़ी, स्वर्णमन्दिर और श्मसान उनके लिए एक से हैं। न वे किसी से राग रखते हैं, न किसी से द्वेष। ऐसे जो साधु हैं वे क्यों नहीं सैकड़ों प्रयत्नों से रक्षणीय हैं? अतः उनकी रक्षा करना परमावश्यक है।

यावत् स्थितिः स्यात्खलुसाधूनां वै,
नोपद्रवोऽराजकता प्रजासु।
परस्परं प्रेमसुधां पिवन्तः,
साधुप्रसादाद्धि नयन्ति कालम् ।२२५।

जब तक संसार में साधुओं की स्थिति है-साधु मौजूद हैं तब तक न तो उपद्रव होता है और न प्रजा में अराजकता। सारा जगत् साधु के प्रसाद से आपस में प्रेमामृत का पान करता हुआ काल व्यतीत करता है। साधु समागम से तामसिक वृत्तियां और कलुषित भावनाएं नष्टप्रायः हो जाती हैं। साधु के दिव्य दर्शन और उपदेश से संसार प्रेमपूर्वक रहता है। सच्चे साधु दुनियां की महान् विभूति हैं। जहां वे हैं वहां आनन्द, मंगल, शान्ति, सुख, वैभव और विभूति सब कुछ है। उनके दर्शन मात्र से प्राणी का कल्याण होता है। वे अहिंसा और सत्य की साकार मूर्ति हैं। जिस युग और जिस क्षेत्र में ऐसे विश्व-हितकारी महात्मा नहीं होते; वह निश्चित ही पापपूर्ण और दुःखमय होता है। हमें सदा ऐसी भावना भानी चाहिये कि जीवन में ऐसे साधुओं की प्राप्ति हो। इसी बात को आगे के पद्य में भी कहते हैं :—

सुखं समृद्धिर्विभवो विभूति-
धर्मोभितः स्नेहपरंपरा वा।
तत्रैव यत्रास्ति महाविभूतिः,
साधुः स्वकीयात्मपरो महात्मा।२२६।

सुख, समृद्धि, वैभव, विभूतियां, चारों ओर धर्म तथा प्रेमामृत की धारा वहीं पर है जहां अपने आत्माका उत्थान करनेमें तत्पर महान् आत्मा और अनेक आत्मविभूतियों के धारी साधु

हैं। साधु समागम से ही सारे ऐहिक और पारलौकिक सुख प्राप्त होते हैं।

मार्गच्युतान् मोहमलीमसान् यो,
स्ववाग्विभूत्या प्रगुणान् करोति।
विनाश्य सर्वं कलहं प्रपञ्चम्,
कथं न साधुः स उपासनीयः ।२२७

पथभ्रष्ट मोहमलीमसों को जो अपने दिव्य उपदेश से सारे कलह प्रपंचों का नाश कर सन्मार्ग में लगाता है वह साधु क्यों न पूजनीय हो? साधु के उपदेश से अनन्त प्राणियों का उद्धार होता है। जो व्यक्ति पतित हैं, पथभ्रष्ट हैं वे साधु का उपदेश पाकर उन्नत हो जाते हैं–सन्मार्ग में लग जाते हैं उनके सारे झगड़े दूर हो जाते हैं। जब साधु इतना पतितोद्धारक है तो फिर वह क्यों न पूजा जाय? उसकी उपासना करना, विघ्नों को दूर कर उसे अपने मार्ग में लगे हुए रखना प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है।

अभ्यन्तरं यस्य महापवित्रं,
बाह्यं तथा पूततमं महर्षेः।
संयोगतस्तस्य कथं न लोकाः,
स्वयं पवित्रा हि भवन्ति भव्याः ।२२८।

जिस महर्षि का अभ्यन्तर बहुत पवित्र है और बाह्य भी

उतना ही पवित्र है, ऐसे ऋषि के संसर्ग से किस तरह संसार अपने आप पवित्र नहीं हो सकता ? जो भीतर और बाहर एक है। अन्तरंग और बहिरंग जिसका पवित्र है ऐसे साधु के संयोग से भव्य जीवों का अपने आप उद्धार हो जाता है।

क्षणस्थिरे वस्तुनि मा समीहां,
करोतु कश्चित्त्विति ये वदन्ति।
आध्यात्मिकोत्थानपराः प्रकाशं,
लोकोत्तरं ते वितरन्ति लोके ।२२६।

'कोई भी संसार के क्षणस्थिर पदार्थों में इच्छा मत करो' ऐसा जो कहते हैं, वे आध्यात्मिक उत्थान करने में तत्पर जगत में एक लोकोत्तर प्रकाश फैलाते हैं। संसार का प्रत्येक पदार्थ नाशवान है इसमें आसक्ति न रखना ही कल्याणकारी है। साधु संसार को यही सिखाते रहते हैं। इस तरह जो साधु संसार का इतना उपकार करते हैं-संसार के उद्धार की तीव्र इच्छा जिनके है वे पूजनीय हैं। उनके उपसर्ग विघ्न आदि आजाने पर दूर करना साधु समाधि है। इसका माहात्म्य बहुत है।

इस प्रकार संक्षेप से साधु समाधि भावना का
वर्णन समाप्त हुआ।

अब वैयावृत्य भावना का वर्णन किया जाता है :—

**व्यपनोदो व्यावृत्तिर्वैयावृत्यश्च सर्व एकार्थः ।**
**पूर्वोक्तसंयतानां कर्तव्यो भक्तितो नित्यम् ।२३०।**

व्यपनोद व्यावृत्ति और वैयावृत्ति ये सब एकार्थवाची शब्द हैं। इनका अर्थ होता है दूर करना-हटाना। अर्थात दुःखों को दूर करना। साधुसमाधि नामक आठवीं भावना में जिन साधुओंका वर्णन किया है उन साधुओं की भक्ति-पूर्वक नित्य वैयावृत्य करनी चाहिये।

साधुओं के दुःख आजाने पर उनको उचित अहिंसक उपायों से दूर करना वैयावृत्य कहलाता है। शारीरिक व्याधियों के हो जाने पर अथवा अन्य प्रकार के दुःख आजाने पर उनको उचित औषधियों अथवा सेवा वगैरह के द्वारा दूर करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है।

मुनियों के अतिरिक्त श्रावकादिकों का भी वैयावृत्य करना आवश्यक है। आपत्तियां सभी प्राणियों पर आती हैं। जिस प्रकार आपदायें हमें सताती हैं उसी प्रकार संसार के अन्य प्राणियों को भी दुःख होता है अतः उनकी रोगादि विपत्तियों को दूर करना ही चाहिये।

प्रश्न—साधु समाधि और वैयावृत्य में क्या भेद है ?

उत्तर—मुनियों के तप में विघ्न उत्पन्न करने वाला चेतन एवं अचेतन कृत उपसर्ग आजाने पर उसे दूर करना समाधि है और शरीर में रोगादिकों का प्रकोप होने पर निर्दोष विधि से

औषधियों एवं अन्य शारीरिक सेवाओं द्वारा उसे दूर करना वैयावृत्य कहलाता है।

साधुसमागमलाभो वैयावृत्याद्धि जायते लोके।
तत्सेवाऽवसरोऽत्र महता पुण्येन लभ्योऽस्ति ।२३१।

लोक में साधुओं का समागम वैयावृत्य से होता है। जिस मनुष्य की भावनाएं साधुओं की सेवा करने की होती हैं, जिसके हृदय में सेवा के उत्कट भाव भरे हुए रहते हैं उसे साधुओं का संसर्ग प्राप्त होता है। प्रथम तो साधुओं का सम्पर्क होना ही बहुत कठिन है और इस पर उनकी सेवा करने का अवसर तो बड़े भारी पुण्य से ही प्राप्त होता है।

वैयावत्य करने का अधिकारी गृहस्थ या श्रावक ही नहीं अपितु साधु भी आपस में एक दूसरे का वैयावृत्य करते हैं। आचार्य उपाध्यायादि जो दश प्रकार के मुनि हैं वे परस्पर रोगादि हो जाने पर एक दूसरे की सेवा वगैरह करते हैं।

संचारो हि गुणानां वैयावृत्यादसंशयं भवति।
इति सुलभो गुणलाभः कथं न भक्तैः समाश्रेयः ।२३२।

वैयावृत्य करने से मनुष्य में साधुओं के गुणों का संचार अवश्य होता है। सेवाभाव से हृदय की कमजोरियां दूर होकर विश्व के साथ सहानुभूति पैदा हो जाती है। रागद्वेष की भावनाएं नष्ट होने लग जाती हैं। सच तो यह है कि सेवाभावसे आत्मदर्शन होता है। संसार के सभी गुणों में वैयावत्य को प्रधान गुण माना

है। अतः वैयावृत्य से जब गुणों की प्राप्ति सुलभ है तो क्यों न भक्त लोग वैयावृत्य करें ? अर्थात् प्रत्येक को वैयावृत्य करना ही चाहिये।

इस प्रकार संक्षेप से वैयावृत्य भावना का
वर्णन समाप्त हुआ।

अब अर्हद्भक्ति नामक भावना का वर्णन किया जाता है :-

**अर्हति पूजार्थकधातुतो वै,**
**शब्दोयमर्हन् खलु सिद्धिमाप्तः।**
**ये घातिकर्मक्षयतो हि पूज्याः,**
**भवन्ति तेऽर्हन्त इति प्रसिद्धाः ।२३३।**

पूजार्थक 'अर्ह' धातु से अर्हत् शब्द की सिद्धि हुई है। व्याकरण के अनुसार अर्हन् शब्द अर्ह धातु से बना है और अर्ह-धातु का प्रयोग होता है 'पूजा' के अर्थ में। जो चार घातिया कर्मों के सर्वथा नाश कर देने के कारण पूजनीय हैं वे 'अर्हन्त' इस नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसे अर्हन्तों की भक्ति करना 'अर्हद्भक्ति' कहलाता है।

**पूजनीया इमेऽर्हन्तो, गुणस्थाने त्रयोदशे।**
**चतुर्दशे च तिष्ठन्तः श्रुतस्कन्धप्रवर्तकाः ॥२३४॥**

तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में रहने वाले तथा द्वाद-

शांग वाणी के प्रवर्तक ये अर्हन्त भगवान पूजनीय हैं।

तेरहवें सयोगकेवली तथा चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थान में रहने वाले जीव को अर्हन्त कहा जाता है। अथवा यों कहना चाहिये कि अर्हन्त भगवान योग सहित रहने पर तेरहवें गुणस्थानवर्ती और योगोंके सर्वथा नष्ट होने पर चौदहवें गुणस्थानवर्ती कहलाते हैं। ये अर्हन्तभगवान संसार का कल्याण करने वाले द्वादशांग के प्रवर्तक होते हैं। यद्यपि रचनारूप में द्वादशांग को संसार के समक्ष रखने वाले तो गणधर होते हैं पर उस द्वादशांग को बताने वाले अर्हन्त ही होते हैं। गणधर तो उसको गूंथने वाले हैं।

अर्हन्त संसार में कितने काल तक रहते हैं?

**किञ्चिन्न्यूनैकपूर्वस्य, कोटिङ्यावत् स्थिता इमे।**
**समुत्कृष्टतया लोके भव्यानां भवतारकाः ॥२३५॥**

भव्यों को संसार से तारने वाले अर्हन्त भगवान ज्यादा से ज्यादा संसार में कुछ कम एक करोड़ पूर्व तक रहते हैं।

कम से कम आयु में यदि केवलज्ञान हो तो वह आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् हो जायगा। इस लिये जीव केवलज्ञान होने के पश्चात् आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त कम एक करोड़ पूर्व तक अर्हन्तावस्था में रह सकता है। मुक्ति जाने वाले मनुष्य की उत्कृष्ट स्थिति एक करोड़ पूर्व से ज्यादा नहीं होती और कमसे कम स्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्र है।

अर्हन्तों की विशेषता :—

आप्तिर्हि चार्हत्सु ततस्त एव,
वन्द्याः मुनीन्द्रैः प्रथमं महान्तः।
तीर्थप्रवृत्तिस्तत एव लोके,
तीर्थङ्करास्ते तत एव चोक्ताः ।२३६।

आप्ति अर्थात् धर्मोपदेश करने की योग्यता अर्हन्तों में ही होती है इस लिये आचार्यों ने उन महान् अर्हन्तों को ही पहले पूजनीय माना है। अर्हन्त और सिद्धों में सिद्ध बड़े हैं, उत्कृष्ट हैं, ससार रहित हैं किन्तु वे उपदेश नहीं देते और अर्हन्त उपदेश देते हैं इस लिये अर्हन्त पहले पूजनीय हैं। लोक में अर्हन्त भगवान से ही तीर्थ की प्रवृत्ति होती है और इस लिये वे तीर्थंकर कहलाते हैं। सिद्धों की अपेक्षा यह उनकी विशेषता है।

अर्हन्तों के भेद :—

अर्हन्त एते जिननाथसूत्रे,
सप्त प्रकाराः गदिताः गरिष्ठाः।
स्वरूपभेदस्तु न चैषु कश्चित्,
विभावमुक्ता हि समानरूपाः ॥२३७॥

आगम में इन महान् अर्हन्तों के सात भेद बताये हैं। परन्तु उन सातों प्रकार के अर्हन्तों में कोई स्वरूप-भिन्नता नहीं है। वे सब समान हैं। रागादि वैभाविक परिणतियों से सभी अर्हन्त मुक्त हैं। तात्पर्य यह है कि सातों प्रकार के अर्हन्तों के

चारों घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं और सभी अनन्त चतुष्टय के धारक हैं। उनके स्वरूप में कोई भेद नहीं होता। उनमें जो भिन्नता है वह उनके निम्नलिखित सात भेदों से जाननी चाहिए—

पञ्चकल्याणयुक्ताश्च कल्याणत्रय-संयुताः ।
कल्याणद्वयसम्पन्ना एते तीर्थङ्कराः पराः ॥२३८॥
सामान्याः केवलिनः केवलिनोऽप्यतिशयेन संयुक्ताः ।
उपसर्गयुताः केचिदन्तः-कृत्केवलाः केचित् ॥२३९॥

१-पञ्चकल्याणधारी, २-तीनकल्याणधारी, ३-दोकल्याण-धारी ये तीन प्रकार के तीर्थङ्कर होते हैं। ४-सामान्यकेवली, ५-सातिशयकेवली, ६-उपसर्गकेवली, ७-अन्तःकृत्केवली इस तरह चार केवली होते हैं। ये सब मिलकर सात प्रकार के अर्हन्त जानने चाहिए। इनमें से प्रत्येक का स्वरूप आगे समझाते हैं:-

पञ्चकल्याणधारी—

तीर्थकृत्प्रकृतिर्बद्धा प्राक्तने जनने तु यैः ।
गर्भजन्मतपोज्ञाननिर्वाणान्याप्नुवन्ति ते ॥२४०॥

जिनने पहले जन्म में तीर्थकर प्रकृति का बन्ध कर लिया हो वे गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण इन पांचों कल्याणों को प्राप्त करने वाले पंचकल्याणकधारी तीर्थङ्कर कहलाते हैं।

तीनकल्याणधारीः—

तीर्थकृत्प्रकृतिर्बद्धाऽस्मिन्नेव भवे तु यैः ।

गार्हस्थ्ये ते तपोज्ञाननिर्वाणान्याप्नुवन्ति हि ॥२४१॥

जिन्हों ने इसी जन्म में ( जिसमें निर्वाण को प्राप्त होंगे ) गृहस्थावस्था में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया हो वे तप ज्ञान और निर्वाण इन तीन कल्याणों को प्राप्त करते हैं। पांच कल्याणों में से उनके तीन ही कल्याण होते हैं। अतः तीन कल्याण के धारी तीर्थंकर कहलाते हैं।

· दो कल्याणधारी—

मुनिदीक्षानन्तरं बद्धा तीर्थकृत्प्रकृतिस्तु यैः।

द्वे कल्याणे लभन्ते ते ज्ञाननिर्वाण-नामके ॥२४२॥

मुनि दीक्षा लेने के पश्चात् जिन्होंने तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध किया हो और उसी जन्म से वे मुक्ति जा रहे हैं तो वे ज्ञान और निर्वाण नामक दो कल्याणों को प्राप्त करते हैं। शेष तीन कल्याण उनके नहीं होते। इस लिए ये दो कल्याणधारी तीर्थङ्कर कहलाते हैं।

सामान्य केवली—

केवलेऽपि समुत्पन्ने गन्धकुट्यादि यस्य नो।

केवली स हि सामान्योऽनन्तवीर्यादिसंयुतः ॥२४३॥

केवलज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर भी जिसके गन्ध-कुटी आदि की रचना नहीं होती वे अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त दर्शन और अनन्तवीर्य के धारी सामान्यकेवली होते हैं। गन्ध-कुटी का वर्णन आगे के श्लोक में किया जायगा।

सातिशय केवली—

तीर्थंकृत्प्रकृतेर्येषां उदयो नास्ति किन्तु ये।
गंधकुट्यादिसंयुक्तास्ते हि सातिशया जिनाः ॥२४४॥

जिनके तीर्थंकर प्रकृति का उदय नहीं होता लेकिन जिनके गन्धकुटी आदि की रचना होती है वे सातिशयकेवली कहलाते हैं। केवली भगवान के विराजमान होने के लिए जो इन्द्र के द्वारा आसन रचा जा जाता है उसे गन्धकुटी कहते हैं। गन्धकुटी और समवशरण में यह भेद है कि गन्धकुटी में समवशरण की तरह बारह सभायें नहीं लगतीं और समवशरण की अन्य रचनाएं भी उसमें नहीं होतीं। केवल उनके विराजमान होने के लिए इन्द्र इसकी रचना कर देता है। समवशरण की तरह यह भी देवकृत है।

अन्तःकृत् केवली—

केवलानन्तरं यो हि लघुन्यन्तर्मुहूर्तके।
निर्वाणं लभते लोके सोन्तःकृत् केवली जिनः ॥२४५॥

केवलज्ञान के उत्पन्न होने के पश्चात् लघु अन्तर्मुहूर्त में ही जो निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं वे अन्तःकृत् केवली कहलाते हैं।

उपसर्गकेवली—

उपसर्गावस्थायां केवलबोधो हि यस्य चोत्पन्नः।
उपसर्गकेवली सोऽनन्तचतुष्टय-समापन्नः ॥२४६॥

जिस समय उपसर्ग हो रहा हो उस समय जिसके केवल ज्ञान उत्पन्न होता है वह उपसर्गकेवली कहलाता है। केवलज्ञान के उत्पन्न होते ही वह अनन्तज्ञान दर्शन सुख और वीर्य का धारी बन जाता है।

इस तरह सात प्रकार के अर्हन्तों का वर्णन किया। आगे बताते हैं कि अर्हन्त के जो छयालीस गुण हैं वे उक्त सातों अर्हन्तों में से किसके होते हैं?

षडधिकचत्वारिंशत्,
ये प्रोक्ता अर्हतामतिशयाः शास्त्रे।
ते तीर्थकृतां किन्तु,
पंचकल्याणयुक्तानाम् ॥२४७॥
इतरेषां सर्वेषां,
केवलिनां षडधिकाः त्रिंशत्।
जननातीशयहीनाः,
नूनं सर्वेऽपि बोद्धव्याः ॥२४८॥

शास्त्र में अर्हन्त भगवान के जो छयालीस अतिशय बताये गये हैं वे सारे अतिशय पंचकल्याणधारी तीर्थङ्करों के ही होते हैं अन्य के नहीं। अन्य जितने भी केवली भगवान हैं उनके छत्तीस अतिशय (मूलगुण) ही होते हैं। जन्म के दश अतिशय उनके नहीं होते।

जन्म के दश अतिशय ये हैं—

"अतिशयरूप सुगन्धतन नाहिं पसेव निहार*।
प्रिय हित वचन अतौलबल रुधिर श्वेत आकार॥
लक्षण सहस अरु आठ तन समचतुष्क संठान।
वज्रवृषभनाराच-युत ये जन्मत दश जान॥"

केवलज्ञान के दश अतिशय ये हैं—

"योजन शत इकमें सुभिख, गगनगमन मुखचार।
नहिं अदया उपसर्ग नहिं नाहीं कवलाहार॥
सब विद्या-ईश्वरपनों नाहिं बढ़ै नख केश।
अनिमिषदृग† छाया रहित देश केवल के वेश॥"

देवकृत चौदह अतिशय—

"देव रचित हैं चार दश अर्द्धमागधी भाष।
आपस माहीं मित्रता निर्मल दिश आकाश॥
होत फूलफल ऋतु सबै पृथिवी काच समान।
चरण कमल तल कमल है नभ तैं जयजय वान।
मन्द सुगन्ध बयारि पुनि गन्धोदक की वृष्टि।
भूमि विषै कण्टक नहीं हर्षमयी सब सृष्टि॥
धर्म चक्र आगे रहै पुनि वसु मंगल सार।
अतिशय श्री अरहन्त के ये चौंतीस प्रकार॥"

आठ प्रातिहार्य—

तरु अशोक के निकट में सिंहासन छविदार।

---

* मलमूत्र रहित शरीर † पलकों का न गिरना

तीन छत्र शिर पर लसें भामण्डल पिछवार ॥
दिव्यध्वनि मुख तें खिरे पुष्पवृष्टि सुर होय ।
ढोरे चौंसठ चमर जख* बाजे दुन्दुभि जोय ॥

इस प्रकार चौंतीस अतिशय, आठ प्रातिहार्य और अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य ये अनन्तचतुष्टय मिला कर ४६ गुण अरिहन्त के होते हैं ।

क्या केवली इस समय हैं ?

कल्याणद्वय-युक्तास्त्रय-युक्ताश्चैव केवलाधीशाः ।
अधुना विदेह-भूमौ ज्ञातव्याः श्रद्धया युक्तैः ॥२४९॥

दो कल्याण एवं तीन कल्याणधारी केवली भगवान इस समय विदेह भूमि में विद्यमान हैं । श्रद्धालु भव्यों को आगम-आज्ञा से यह बात स्वीकार करनी चाहिए ।

अर्हतामेवमुक्तानां या भक्तिः सा प्रकथ्यते ।
अर्हद्भक्तिः महापाप-नाशिनी मोक्षदायिनी ॥२५०॥

इन सातों प्रकार के अर्हन्तों की जो भक्ति की जाती है वह अर्हद्भक्ति कहलाती है । यह अर्हद्भक्ति घोर से घोर पापों का नाश करने वाली है ।

भक्ति किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

पूज्यानां गुणवृन्देष्वनुरागो भक्तिरुच्यते ।
गुणलब्ध्यर्थमेवेयं क्रियते नान्यहेतुतः ॥२५१॥

---

* यक्षदेव

पूज्य महापुरुषों के गुणों में अनुराग रखना ही भक्ति कहलाती है। ये भक्ति गुणों की प्राप्ति के लिए ही की जाती है अन्य किसी कारण से नहीं। अर्हन्त भगवान में जो गुण हैं उन गुणों में अनुराग रखना, उनका चिन्तवन करना और उनको प्राप्त करने का प्रयत्न करना ही अर्हद्भक्ति है।

आगे वताते हैं कि भक्ति ही सब सुखों का करण है—

**भक्तेः शुभोपयोगः स्यात् तस्मात् स्याद्धि सुखोदयः।**
**सर्वसंसार सौख्यानां कारणं भक्तिरुच्यते ॥२५२॥**

भक्ति करने से शुभोपयोग होता है और शुभोपयोग से सुख का उदय होता है। अतः संसार के समस्त सुखों का मूल-कारण भक्ति ही है। यदि हम ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें पूज्य व्यक्तियों के गुणोंका अनुसरण करना चाहिए। गुणों का अनुसरण ही तो भक्ति है।

भगवान की भक्ति को सारे सुखों का कारण वतलाना उपचार से है वास्तव में नहीं—आगे के श्लोक में यही वर्णन करते हैं:—

**पतितोद्धारकत्वादि-विरुदानि जिनेशिनाम्।**
**उपचारेण सत्यानि नार्थतो हि विरागिणाम् ॥२५३॥**

जिनेन्द्र भगवान को जो पतितोद्धारक, तारणतरण, अधम-उद्धारक आदि कहा जाता है—वह उपचार से है, वास्तव में नहीं। क्योंकि वीतराग भगवान दूसरों के उद्धार की चिन्ता क्यों करेंगे ?

दुखियों का दुःख देख कर उन्हें दया आती है जो सरागी हैं। क्योंकि दया राग की परिणति है और भगवान वीतराग तो विरागी हैं उन्हें संसार के प्राणियों से क्या लेना देना है। जब उनके रागद्वेष नहीं तब उनसे विग्रह अनुग्रह क्यों कर हो सकता है? इस लिए उपर्युक्त विशेषण वस्तुतः शुभोपयोग के लिए उपयुक्त हो सकते हैं, भगवान के लिए नहीं। क्योंकि शुभोपयोग न हो तो भगवान की भक्ति भी निष्फल है। आगे के पद्य में यही बतलाते हैं :—

तदा हि भक्तिः खलु निष्फला स्यात्,
यदा तया नैव शुभोपयोगः।
उद्धारकत्वादि-विशेषणानि,
शुभोपयोगे खलु संभवन्ति ॥२५४॥

जब भक्ति के द्वारा शुभोपयोग न हो तो भक्ति व्यर्थ है उस से कोई फल नहीं निकल सकता। अतः उद्धारकत्वादि विशेषण शुभोपयोग के लिए ही सम्भव हो सकते हैं। क्योंकि यदि भगवान की भक्ति से शुभोपयोग उत्पन्न न हो तो जीव का उद्धार नहीं हो सकता। जिनेन्द्र भगवान की पूजा, भक्ति करने वाला भी तभी पापों को नष्ट कर सकता है जब वह उसके द्वारा शुभोपयोग उत्पन्न कर ले, नहीं तो उनके संसर्गमें रहने वाला भी अपना कल्याण नहीं कर सकता।

आगे यही बतलाते हैं कि भगवान के संसर्ग से ही कोई

संसार सागर से नहीं तिर जाता यदि उसका मन शुभोपयोग रूप न हो :—

जिनानुषंगादपि नैव सर्वे,
तरन्ति पापानि पुराकृतानि ।
शुभोपयोगो यदि नैव तस्मात् ।
ततः स लभ्यो मनसाऽमलेन ॥२५५॥

यदि शुभोपयोग न हो तो जिनेन्द्र भगवान के संसर्ग से भी कोई अपने पापों का नाश नहीं कर सकता। पापों का नाश आत्मा के भावों के साथ है। यदि आत्मा में पवित्रता आगई है, उपयोग शुभ है तो अवश्य पापों का नाश हो सकता है, नहीं तो नहीं। इस लिए शुद्ध मन से शुभोपयोग प्राप्त करना चाहिए।

एतद्रहस्यं न विजानतां या,
भक्तिर्व्यपार्था भवतीह लोके ।
ततोऽर्हतो संगमने सुभक्तैः,
शुभोपयोगो हि समर्जनीयः ॥२५६॥

जो इस रहस्य को नहीं जानता—अर्थात् अपने में शुभोपयोग उत्पन्न नहीं कर सकता—उसकी सारी भक्ति व्यर्थ हो जाती है। अतः अर्हन्त भगवान का समागम प्राप्त होने पर भी भक्त लोगों को शुभोपयोग प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। तभी भक्ति, पूजा, स्तुति आदि का साफल्य है। नहीं तो तुष

आचार्यों के छत्तीस मूल गुण ये हैं—बारह तप, उत्तम क्षमादि दश धर्म, समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक तथा पांच आचार और मनोगुप्ति (मन को वश में रखना), वचन गुप्ति (वचन को वश में रखना), कायगुप्ति (शरीर को वश में करना) ये तीन गुप्तियां—इस प्रकार आचार्यों के छत्तीस मूलगुण होते हैं। लेकिन ये आचार्यों के लक्षण नहीं बन सकते क्योंकि जिस प्रकार ये गुण आचार्यों में रहते हैं उसी प्रकार अन्य साधुओंमें भी पाये जाते हैं।

शंका—तो फिर आचार्य का लक्षण क्या है? इसका उत्तर—

आचार्या मुनिसंघस्य,
शासका इति लक्षणम्।
साधूपाध्याययतिषु,
नातिव्याप्तं ततः स्मृतम् ॥२६०॥

जो मुनि संघ के शासक हों वे आचार्य होते हैं—यह आचार्य का लक्षण है। यह लक्षण और किसी साधु एवं उपाध्याय यतियों में अतिव्याप्त नहीं है। अतः यही लक्षण ठीक है।

गणधर भी आचार्य ही हैं—

कर्तारो द्वादशांगानाम्,
गणाधीशा महर्षयः।
प्रधानाचार्यतां प्राप्ता—

आचार्यपितरः स्मृताः ॥२६१॥

द्वादशांग वाणी के कर्ता अर्थात् ग्रन्थ रूप में गूंथने वाले महर्षि गणधर होते हैं। गौतमादि गणधरों ने द्वादशांग की रचना कर संसार को धर्म का स्वरूप बताया है, अतः ये प्रधानाचार्यता को प्राप्त हुए हैं और इसी लिये वे आचार्यों के पिता कहे जाते हैं।

नराधीशाः यथा लोके,
प्रजानां शासकः मताः।
संयतानां तथाचार्याः,
दण्डादिविधि-शासने ॥२६२॥

जिस प्रकार संसार में राजा प्रजा का शासक माना है उसी प्रकार मुनि यतियों के लिए दण्ड आदि का विधान करने में आचार्य शासक कहलाते हैं। मुनियों के हीनाचारी हो जाने या उनके आचार में कोई दोष लग जाने पर प्रायश्चित आदि दण्ड देना आचार्यों का कार्य है।

राजा प्रजा का शासक है उसकी व्यवस्था का खयाल रखना राजा का कर्तव्य है। उसी प्रकार संघ की व्यवस्था करना आचार्य का कर्तव्य है। इसी लिए आचार्यत्व के आठ गुण गिनाये गये हैं। सर्वप्रथम गुण है आचारवान् अर्थात् स्वयं आचारवान बनना और शिष्यों को बनाना। २-आधारवान् अर्थात् शिष्य को विचलित न होने देना तथा आधार बनाये रखना। ३-

व्यवहारवान्—प्रायश्चित्तादि सूत्र का ज्ञाता। ४-प्रकर्ता—आपत्ति आने पर संघ की सेवा करना। ५-आपायोपायविदर्शी—अर्थात् मुनि के विचलित हो जाने पर रत्नत्रय धारण के गुण और रत्नत्रय नाश के दोष बता कर धर्म में स्थित रखना। ६-अवपीडक—मुनि अपने दोषों की आलोचना ठीक न करे तो समझाना। ७-अपरिश्रावी—एक मुनि के दोष को किसी दूसरे मुनि आदि से न कहने वाला। ८-निर्यापक—शिष्य को विघ्न, दोषादिकों से बचाकर संसार से पार लगाने वाला। ये आचार्यपने के आठ गुण हैं। इन गुणों से यही जाना जाता है कि आचार्य अपने संघ के शासक हैं। संघ की सारी जिम्मेवारी उन पर रहती है। अपना एवं संघ का कल्याण करना ही उनका प्रधान कार्य है।

संघतो हि वहिष्कारं,
दीक्षाच्छेदादिकं तथा।
संघस्थानां व्यवस्थार्थ-
माचार्याः घटयन्ति ते ॥२६३॥

वे आचार्य संघ की व्यवस्था रखने के लिए अपराधी मुनि का वहिष्कार, दीक्षाच्छेदन तथा पुनः दीक्षित करना आदि सभी कार्य करते हैं अतः आचार्य संघ के शासक हैं।

ऐसे आचार्यों की भक्ति करना उनके गुणों में अनुराग करना 'आचार्य भक्ति' है—यही कहते हैं—

सूरीणामुक्तानां भक्तिः क्रियते त्रियोगशुद्ध्या या।

**साऽऽचार्यभक्तिरस्ति लोकद्वयसुखकरी शुभगा ॥२६४॥**

उपर्युक्त आचार्यों की शुद्ध मन, वचन और काय के द्वारा स्तुति, पूजा, उपासना या भक्ति करना 'आचार्य भक्ति' कहलाती है। इस भक्ति के द्वारा जो शुभोपयोग उत्पन्न होता है वही इस लोक और परलोक में सुख को उत्पन्न करने वाला होता है। पद्य में जो शुभगा विशेषण दिया हुआ है इसका यही तात्पर्य है।

इस प्रकार संक्षेप से आचार्य भक्ति भावना का वर्णन समाप्त हुआ।

अब बहुश्रुत भक्ति भावना का वर्णन किया जाता है—

**बहुश्रुता ह्युपाध्यायाः सर्ववाङ्मयबोधतः।**
**आधिक्यबोधतस्तस्याथवा ते पाठका मताः ॥२६५॥**

समस्त द्वादशांग रूप वाणी के ज्ञाता होने से अथवा औरों की अपेक्षा अधिक ज्ञानी होने के कारण उपाध्याय 'बहुश्रुत' कहलाते हैं। और संघस्थ मुनियों को पढ़ाने के कारण उन्हें 'पाठक' कहते हैं। ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के धारी उपाध्याय स्वयं अंग और पूर्वों का पाठ करते हैं और शिष्यों को पढ़ाते हैं। पठन पाठन ही उनका प्रधान कार्य है। ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों के सम्बन्ध में आभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना में वर्णन किया जा चुका है।

उपाध्याय का निरुक्तिपूर्वक अर्थ—

उपेत्याधीयते यस्मात्सोपाध्यायो गुरुर्मतः ।
संघस्थसंयतानां हि पाठने दत्तमानसः ॥२६६॥

जिसके पास बैठकर पढ़ा जाय वह 'उपाध्याय' कहलाता है। वह संघस्थ साधुओं के विद्या-गुरु हैं। क्योंकि संघ में रहने वाले यतियों को पढ़ाने में वह दत्तचित्त रहते हैं। संघस्थ साधुओं के पठन पाठन का सारा भार उन्हीं पर होता है।

आचार्य और उपाध्याय भेद—

न चादेशं हि कुर्वन्ति उपाध्याया महर्षयः ।
आचार्या इव, ते किन्तूपदेशं कर्तुमीशते ॥२६७॥

उपाध्याय महर्षि आचार्यों के समान आदेश नहीं कर सकते वे तो केवल उपदेश दे सकते हैं। आचार्य को संघ की व्यवस्था बनाये रखनी पड़ती है। संघ की सारी जिम्मेवारी आचार्य पर होती है अतः आचार्य आदेश आज्ञा दे सकते हैं लेकिन उपाध्याय केवल उपदेश मात्र देने के अधिकारी हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आचार्य राजा की तरह मुनि संघ के शासक होते हैं। उपाध्यायों पर शासन की जिम्मेवारी बिलकुल नहीं होती। दीक्षा देना, दण्ड विधान करना, दीक्षा छेदना, अपराध होने पर किसी का संघ से वहिष्कार करना आदि सारी जिम्मेवारियां आचार्यों पर ही होती हैं।

उपाध्याय के मूल गुण—

पञ्चविंशतिरेतेषां गुणाः प्रोक्ताः परं न ते ।

लक्षणं दोषयुक्तत्वादाचार्यादिषु संभवात् ॥२६८॥

ग्यारह अंग और चौदह पूर्व ये उपाध्याय के २५ गुण हैं। पर यह बात नहीं है कि यह पच्चीस गुण सभी उपाध्यायों में हों। इन पच्चीस गुणों का सद्भाव तो श्रुतज्ञान की पराकाष्ठा का द्योतक है। और यह बात भी नहीं है कि यह पच्चीस गुण केवल उपाध्यायों में ही होते हों। यह गुण तो आचार्य अथवा साधु में भी हो सकते हैं। इस लिए यह कहना कि जिसमें पच्चीस गुण हैं वह उपाध्याय है—ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा लक्षण बनाने में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोनों दोष आते हैं। आगे के श्लोक में यही आशय प्रकट किया गया है:—

बहुश्रुतेषु सर्वेषु न च तेषां विनिश्चयः।

ततोऽध्यापनतो ह्येतत् प्राप्यते पदमुत्तमम् ॥२६९॥

सभी बहुश्रुत अर्थात् उपाध्यायों में उक्त पच्चीस गुण पाये जाते हैं—ऐसा निश्चित नहीं है। उपाध्याय का महान पद तो केवल पढ़ाने से ही प्राप्त होता है।

प्रश्न—उपाध्यायत्वादि पद भाव-लिंगी मुनियों को ही सम्भव है या द्रव्यलिंगी भी इन पदों को प्राप्त कर सकते हैं? इसका उत्तर:—

उपाध्यायत्वसंभूतिर्मुनीनां द्रव्यलिंगिनाम्।

तथैवाचार्यतायाश्च साधुतायाश्च संभवः ॥२७०॥

द्रव्यलिंगी मुनि ( जिनके करणानुयोग की अपेक्षा सम्यग्-

दर्शन नहीं है ) भी उपाध्याय, आचार्य एवं साधु हो सकते हैं। जिनका बाह्याचार चरणानुयोग के अनुसार होता है उनके अपने अपने गुणों के अनुसार उपाध्याय, आचार्य और साधु पद संभव हो सकता है।

प्रश्न—उपाध्याय, आचार्य एवं साधु—ये किस अनुयोग की अपेक्षा हैं? इसका उत्तर—

लोकानुयोगतस्तेऽथवा वृत्तानुयोगतः।
त्रयोप्येते समाख्याताः पूजनीया महर्षयः ॥२७१॥

आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीनों करणानुयोग अथवा चरणानुयोग दोनों ही अपेक्षा से माने जाते हैं। उक्त तीनों महर्षियों के सम्यक्त्व है या नहीं—इसकी पहचान छद्मस्थ नहीं कर सकते। छद्मस्थ तो बाह्य चारित्र द्वारा ही यह जान सकते हैं कि अमुक साधु है, अमुक उपाध्याय है और अमुक आचार्य है। करणानुयोग की अपेक्षा कौन क्या है—इसका ज्ञान सिर्फ सर्वदर्शियों को ही हो सकता है। जिसके द्रव्यलिंग में कोई दोष दृष्टिगोचर नहीं होता। उसे छद्मस्थ अवश्य साधु मानेगा और उसका यह मानना चरणानुयोग के अनुसार कहलावेगा। इस लिए द्रव्यलिंगी भी उपाध्याय आचार्य और साधु होते हैं। इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए और भी कहते हैं:—

मूलत्वाद् दृष्टिरस्पष्टा चारित्रं स्पष्टमेव हि।
शाखादिवत्ततः पूज्यं छद्मस्थैर्वृत्तमेव तु ॥२७२॥

सम्यग्दर्शन, चारित्र और ज्ञान की जड़ है। जिस प्रकार वृक्ष का मूल दृष्टिगत नहीं होता और शाखा आदि ही दीखने में आती है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन दिखलाई नहीं देता, चारित्र ही शाखादि की तरह नजर आता है। अतः छद्मस्थों के लिये चारित्र ही पूजनीय है। यदि किसी जीव के आचार्यादि का निर्दोष चारित्र पलता हुआ दिखलाई देता है तो उसे आचार्यादि ही मानना चाहिये। हम तो अनुभव में आने योग्य उनके गुण ही ग्रहण कर सकते हैं। अमुक के सम्यक्त्व है या नहीं—यह स्पष्ट रूप से हम नहीं जान सकते। इस लिए बाह्याचार शास्त्रानुकूल होने से हमें परमेष्ठी मानना चाहिये।

चारित्र की अपेक्षा ही पात्रापात्र की पहचान होती है—यह आगे के श्लोक में बता रहे हैं :—

शास्त्रे पात्रादिभेदाश्च चारित्रापेक्षया मताः।
दर्शनापेक्षया तेषां कथं स्याद् भेदसंभवः ॥२७३॥
सम्यग्दृष्टिः क्षणात्पूर्वं मिथ्यादृष्टिस्ततः परम्।
ज्ञातुं न शक्यते नूनं छद्मस्थैः स्वत एव तु ।२७४।

शास्त्रों में जो पात्र कुपात्र अपात्र आदि भेद बताये गये हैं वे चारित्र की अपेक्षा से ही हैं। पात्रों के आचरणों को देख कर ही पात्रापात्र की पहचान होती है। सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से तो पात्रों में भेद किये ही नहीं जा सकते, क्योंकि सम्यग्दर्शन अदृश्य है। जो जीव क्षणभर पहले सम्यग्दृष्टि था वह क्षणभर बाद

मिथ्यादृष्टि हो सकता है ? ऐसी अवस्थामें छद्मस्थ दातार के लिये पात्रापात्र का भेद जानना कैसे सम्भव हो सकता है ? वह कैसे जानेगा कि सम्यग्दर्शन कब हुआ और कब छूट गया। यह तो केवली भगवान ही जान सकते हैं।

मुनिसंघ में सारे मुनि भावलिंगी ही नहीं होते-द्रव्यलिंगी भी होते हैं-यही बताते हैं :—

साधुसंघे न सर्वेपि दर्शनान्वितचेतसः।
भवन्ति मुनयस्तत्र संभवो द्रव्यलिंगिनाम् ॥२७५॥

मुनिसंघ में भी सारे मुनि भावलिंगी ही नहीं होते, द्रव्य-लिंगी भी हो सकते हैं। द्रव्यलिंगी और भावलिंगी में वैसे देखा जाय तो बहुत बड़ा अन्तर है। भावलिंगी सम्यग्दृष्टि होता है और उसका आत्मा पवित्र बन जाता है। पर द्रव्यलिंगी का आत्मा पवित्र नहीं होता क्योंकि उसका चैतन्य मिथ्यात्व से ग्रस्त है। परन्तु स्थूल रूप से देखा जाय तो चारित्र दोनों में बराबर नजर आता है। इस लिये उनमें अल्पज्ञ भेद नहीं कर सकता। क्योंकि :—

क्रिया बाह्या समाना स्याद् द्वयोर्लिङ्गवतोर्ननु।
ज्ञातुं न शक्यते स्पष्टं द्वयोर्भेदोल्पबोधनैः ॥२७६॥

द्रव्यलिंगी और भावलिंगी दोनों ही प्रकार के यतियों की बाह्य क्रियायें समान होती हैं। परीषह वगैरह को सहना तथा तपश्चरण आदि में रत रहना आदि बातें दोनों में पाई जाती हैं

इस लिए दोनों में कोई स्पष्ट भेद दृष्टिगत नहीं होता, जिसको अल्पज्ञ जान सकें। केवली ही उनके भेद को समझ सकते हैं। अतः द्रव्यलिंगी मुनि भी उपाध्याय होता है और वह पूजनीय है। उपाध्याय की भक्ति करना उनके गुणों को ग्रहण करने का प्रयत्न करना 'वहुश्रुतभक्ति' है।

वहुश्रुतानामेतेषां भक्तिः प्रोक्ता वहुश्रुत-
भक्तिः श्रीजिनसिद्धान्ते स्वर्गमोक्षप्रदायिनी ।२७७।

इन वहुश्रुत अर्थात् उपाध्यायों की भक्ति पूजा स्तुति आदि करना वहुश्रुत भक्ति कहलाती है। यह वहुश्रुत-भक्ति श्री जिनेन्द्र-भगवान के शासन में स्वर्ग और मोक्ष की देने वाली वतलाई गई है।

इस प्रकार संक्षेप से वहुश्रुतभक्ति भावना का
वर्णन समाप्त हुआ।

अब प्रवचनभक्ति भावना का वर्णन करते हैं :—

प्रवचन का अर्थ—

जिनेन्द्रवचनोद्गीर्णं सर्वोत्कृष्टं वचः स्मृतम्।
ततः प्रवचनं प्रोक्तं स्वर्गमोक्षफलप्रदम् ॥२७८॥

जिनेन्द्र भगवान के मुख से निकला हुआ वचन सर्वोत्कृष्ट माना गया है। इसी लिए वह 'प्रवचन' है और स्वर्ग एवं मोक्ष

रूप फल को देने वाला है। प्रकृष्ट वचन को प्रवचन कहा जाता है।

शंका उठती है कि भगवान के वचन को प्रवचन क्यों कहा जाय। इसका ग्रंथकार उत्तर देते हैं कि :—

तीर्थत्वात्तद्-वचः प्रोक्तं प्रकृष्टं हि गणाधिपैः।
भवाम्भोनिधितो भव्यान् तारयत्याशु तज्जनान्।२७६।

गणधर देवों ने भगवान की वाणी को तीर्थ होने के कारण प्रकृष्ट वाणी कहा है। भगवान के मुख से निकला हुआ वचन तीर्थ इस लिये है कि वह भव्यजीवों को संसार सागर से शीघ्र ही पार कर देता है। जिनेन्द्र द्वारा बताया गया मार्ग जीवों का उद्धार करने वाला और दुःखों से छुटकारा दिलाने वाला है।

प्रवचन की प्रशंसा—

जैनं प्रवचनं लोके गरिष्ठं सार्वमेव च।
स्याद्वादालंकृतं तद्धि न चोल्लंघ्यं कुदृष्टिभिः।२८०।

जिनेन्द्र भगवान का वचन लोक में सर्वोत्कृष्ट और महान् है। वह वचन स्याद्वाद से युक्त है उसका उल्लंघन-खण्डन मिथ्या-दृष्टि नहीं कर सकते। स्याद्वाद-रूप-जैन-प्रवचन संसार के सभी वचनों में श्रेष्ठ है। स्याद्वाद एक ऐसा सिद्धान्त है जो सारे विरोधों का परिहार कर सर्वत्र एकता स्थापित करता है। इसके सम्बन्ध में दर्शन विशुद्धि भावना का वर्णन करते समय बहुत कुछ लिखा जा चुका है।

जिनेन्द्रवचन असत्य नहीं है क्योंकि :—

**अज्ञानञ्च कषायश्चाऽसत्यत्वस्य कारणम् ।**
**न द्वयं वीतरागे तत् सूनृता तज्जिनेन्द्रवाक् ।२८१।**

असत्य के कारण अज्ञान और कषाय हैं। जब मनुष्य अज्ञानी या रागद्वेष रूप कषाय सहित होता है तभी वह असत्य वचन कहता है। रागद्वेष रहित जिनेन्द्र भगवान में न अज्ञान है और न कषाय। अतः उनकी वाणी असत्य नहीं हो सकती।

स्याद्वाद सारे विरोधों का नाश करने वाला है :—

**स्याद्वादो हि विरोधस्याखिलस्य प्रविनाशकः ।**
**तेन युक्ता हि वाग् जैनी प्रकृष्टा न कथं भवेत् ।२८२।**

स्याद्वाद सिद्धान्त संसार के समस्त विरोधों का नाश करने वाला है। स्याद्वाद के होने पर कोई विरोध या झगड़ा रह ही नहीं सकता। क्योंकि स्याद्वाद में हठवाद को बिलकुल स्थान नहीं और वह एक ऐसा मध्यम मार्ग है जिसमें किसी का विरोध हो ही नहीं सकता। अतः स्याद्वाद से युक्त जो जिनेन्द्र भगवान का वचन है वह प्रकृष्ट वचन क्यों नहीं कहा जाय ?

स्याद्वाद सिद्धान्त सार्वभौमिक है—यही कहते हैं :—

**सर्वत्र वाङ्मये व्याप्तो स्याद्वादो खलु तैलवत् ।**
**तिलेषु प्रतिबुद्धानां विदुषां भूषणं ननु ॥२८३॥**

जिस प्रकार तिलों में सब जगह तेल मौजूद रहता है, ऐसा कोई तिल का अंश नहीं जिसमें तेल नहीं हो। उसी प्रकार

स्याद्वाद सारे वाङ्मय में सब जगह व्याप्त है। स्याद्वाद सार्वदेशिक, सार्वभौमिक और सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त विवेकी निष्पक्ष विद्वानों का भूषण है।

विरोधी भी स्याद्वाद सिद्धान्त को मानते हैं :—

विरोधिनोऽप्यमुं वादमंगीकुर्वन्ति मौनतः।
अगत्या किन्तु ते वाचा दूषयन्ति हठादिमम् ।२८४।
अक्षपादः कणादश्च जैमिनिर्व्यास एव च।
सांख्यः पातञ्जलश्चैव सर्वे गृह्णन्त्यमुं ननु ।२८५।

विरोधी लोग अर्थात् अजैन भी इस स्याद्वाद सिद्धान्त को अंततो-गत्वा किसी न किसी प्रकार चुपचाप स्वीकार करते ही हैं क्योंकि स्याद्वाद को माने विना काम नहीं चल सकता परन्तु वचन से वे स्याद्वाद में दोष ही निकाला करते हैं। न्यायदर्शन के वेत्ता अक्षपाद, वैशेषिक दर्शन के रचयिता महर्षि कणाद, मीमांसक दर्शनकार जैमिनी, वेदान्ती-व्यास जी, सांख्य दर्शनकार एवं पातञ्जल ऋषि आदि सभी जैनेतर दर्शनकारों ने इस स्याद्वाद सिद्धान्त का (इस का विना ही नाम लिये) स्थान २ पर उपयोग किया है। पाठकों को नीचे लिखे उद्धरणों से मालूम हो जायगा कि उक्त विद्वानों ने स्याद्वाद को किस तरह अपनाया है :—

अक्षपाद—न्याय सूत्र की वैदिकवृत्ति में कर्मफल के सम्बन्ध में जहां चर्चा चली है वहां "कर्म से उत्पन्न होने वाला फल उत्पत्ति के पूर्व सत् है या असत्" इस प्रश्न का उत्तर देते

हुए लिखा है कि 'उत्पादव्यय दर्शनात्'- न्या० ४-१-४६ इसकी व्याख्या करते हुए अन्त में लिखा है कि—उत्पत्ति के पूर्व फल सत् भी है और असत् भी। इसके अतिरिक्त नैयायिक लोग द्रव्य कर्म तथा गुण इन तीनों पदार्थों को सामान्य विशेष रूप मानते हैं। अतः स्याद्वाद सिद्धान्त अपने आप स्वीकार कर लिया गया है।

कणाद—वैशेषिक दर्शन में अन्योन्याभाव के वर्णन में ६वें अध्याय के चौथे और पांचवें सूत्र में यह माना गया है कि पदार्थ किसी रूप से सत् है और किसी अन्यरूप से असत्।

जैमिनी—मीमांसादर्शन में एक ही ज्ञान को प्रमाता, प्रमिति और प्रमेयाकार माना गया है। अतः ज्ञान तीन विषयता रूप मानने से स्याद्वाद सिद्धान्त आ ही जाता है। इसके अतिरिक्त मीमांसा दर्शन में पदार्थ को उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप माना गया है। इसके लिये मीमांसा श्लोकवार्तिक पृष्ठ ६१६ में २१-२२-२३ श्लोक देखिये।

व्यास—वेदान्त दर्शन में 'युक्तेः शकान्तराच्च' इस ब्रह्म सूत्र की व्याख्या करते हुए भास्कराचार्य ने अपने भाष्य में पदार्थ में भेदाभेद व्यवस्था को स्वीकार किया है। देखिये भास्कराचार्य-रचित भाष्य पृष्ठ नं० १०१।

सांख्यदर्शन—सांख्यदर्शन में सत्व रज और तम इनकी साम्यावस्था को प्रधान अथवा प्रकृति माना है। प्रसाद लाघव आदि भिन्न २ स्वभाव वाले अनेक पदार्थों को एक प्रधान रूप मानने से पदार्थ अनेकान्तात्मक स्वीकार कर लिया गया है।

महर्षि पतञ्जलि—महर्षि पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य पशपशाह्निक में पदार्थ को द्रव्यत्व की अपेक्षा नित्य और पर्याय की अपेक्षा अनित्य स्वीकार किया है। उनने लिखा है कि—'द्रव्यं नित्यमाकृति रनित्या'·· ······आकृतिरन्या चान्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव।

इस प्रकार सभी दर्शनकारों ने जैनदर्शन के स्याद्वाद सिद्धान्त को अपनाया है। विस्तार भय से हम सभी बातें यहां नहीं लिख सकते कि किस २ स्थान पर कैसे २ अजैन दार्शनिकों ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है।

स्याद्वाद ज्ञान का संस्कारक है :—

स्याद्वादस्य महत्त्वं हि न वयं वदितुं क्षमाः।
स्याद्वादो वाङ्मलध्वंसी ज्ञानसंस्कृतिकारकः।२८६।
एतद्वादेन युक्तत्वाज्जैनं शास्त्रं हि कथ्यते।
प्रकृष्टं वचनं लोके तद्भक्तिर्मोक्षदायिनी॥२८७॥

स्याद्वाद वचन के मैल को नाश करने वाला है, स्याद्वाद को अपनाने से वाणी शुद्ध और संसार के कलह को नाश करने वाली हो जाती है। स्याद्वाद मानों ज्ञान को मांज कर उसे शुद्ध बना देता है। सच तो यह है कि स्याद्वाद की महिमा अपार है हम उसका वर्णन करने में समर्थ नहीं। इस स्याद्वाद के कारण ही जैनशास्त्र उत्कृष्ट वचन कहा जाता है। उस स्याद्वाद रूप वाणी की भक्ति करना—उसे अपनाना मोक्ष प्रदान करने वाला है।

इस प्रवचनरूप श्रुत की पूजा और अर्हन्त की पूजा में कोई भेद नहीं-यही ग्रन्थकार बताते हैं :—

भक्त्या हि येऽर्चन्ति जनाः श्रुतं ते,
अर्हन्तमर्चन्ति-यतो न कश्चित् ।
भेदोऽस्ति देवश्रुतयोस्ततोऽर्चेत्,
त्रियोगशुद्ध्या श्रुतमेतदेव ॥२८८॥

जो मनुष्य भक्तिपूर्वक श्रुत की अर्थात् प्रवचन की पूजा करते हैं वे अर्हन्त भगवान की पूजा करते हैं। क्योंकि अर्हन्तदेव और श्रत में कोई भेद नहीं है। अर्हन्तदेव तो श्रुत की साक्षात् मूर्ति ही हैं अतः मन वचन और काय को शुद्ध रखते हुए प्रवचन की पूजा करनी चाहिये। यही प्रवचन भक्ति भावना है।

इस प्रकार संक्षेप से प्रवचन भक्ति भावना का
वर्णन समाप्त हुआ।

अब आवश्यकापरिहाणि भावना का वर्णन करते हैं—

अवश्यं यद्धि कर्तव्यमावश्यकमिति स्मृतम् ।
प्रत्यहं तदनुष्ठानं तस्याऽहानिः प्रचक्ष्यते ॥२८९॥

जो अवश्य करने योग्य होता है उसे 'आवश्यक' कहते हैं। उस आवश्यक कार्य को प्रतिदिन करते रहना ही 'अहानि' अर्थात् 'आवश्यकाऽपरिहाणि' है। जो क्रियायें प्रतिदिन करने की हैं

उनको निरन्तर करते रहना, कभी न छोड़ना ही आवश्यकाऽपरि-हाणि भावना का अर्थ है।

प्रश्न उठता है कि आवश्यक क्रियायें कौन सी हैं ? इसका उत्तर देते हैं :—

मुनिश्रावकभेदेन तस्याः भेदद्वयं मतम् ।
आवश्यकं हि साधूनां श्रावकाणां तथा मतम् ॥२६०॥

वह आवश्यक क्रियायें मुनि और श्रावकों के भेद से दो प्रकार की हैं। अर्थात् साधुओं के आवश्यक और श्रावकों के आवश्यक। प्रथम साधुओं के आवश्यकों का वर्णन करते हैं:—

सामायिकं स्तवस्तत्र वन्दना च प्रतिक्रमः ।
प्रत्याख्यानविशिष्टो हि कायोत्सर्गस्तथैव च ॥२६१॥
आवश्यकानि साधूनां षडेतानि मतानि तु ।
सर्वसावद्ययोगानां निवृत्तिः प्रथमं मतम् ॥२६२॥

१–सामायिक, २–स्तवन, ३–वन्दना, ४–प्रतिक्रमण, ५–प्रत्याख्यान और ६–कायोत्सर्ग—ये छह साधुओं के आवश्यक हैं। सर्व प्रथम सामायिक का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि तमाम परिग्रहारम्भ से निवृत्त होना, सांसारिक सभी पाप सामग्रियों से विरक्त होना 'सामायिक' है। द्रव्य और भाव की अपेक्षा सामायिक के दो भेद समझना चाहिए। द्रव्य सामा-यिक वह कहलाता है जिसमें धन, दौलत, जमीन, मकान आदि

समस्त पदार्थों से विरक्ति धारण कर ली जाय । जीवन-मरण, रागद्वेष आदि जीव की वैभाविक परिणतियों से अपने को हटा कर शुद्धात्मा में रमण करना भाव सामायिक है। नाम स्थापना आदि की अपेक्षा भी सामायिक के भेद होते हैं; पर विस्तार भय से उसका यहां वर्णन नहीं करते ।

इनका विशद वर्णन अनगार धर्मामृत आदि ग्रन्थों में देखना चाहिए।

आगे स्तवन आदि आवश्यकों का स्वरूप बताते हैं:—

**तीर्थकृत्-गुणकीर्तिश्च स्तवः स्यान्मोहनाशकः ।**
**त्रिशुद्धिद्व्यासना ज्ञेया द्वादशावर्तना खलु ॥२६३॥**
**चतुः शिरोनतिः सम्यक् वन्दना मुनिभिर्मता ।**
**भूतदोष-निवृत्तिश्च प्रतिक्रमणमेव तु ॥२६४॥**

तीर्थङ्कर भगवान के गुणों का कीर्तन करना 'स्तव' कहलाता है। यह स्तवन मोह का नाश करने वाला है । भगवान के गुणों का स्मरण करना स्तवन है चौबीस तीर्थङ्करों की भिन्न २ स्तुति करना—चतुर्विंशति स्तव कहलाता है। नाम स्थापना आदि के भेद से स्तवन के छह भेद तथा द्रव्य भाव की अपेक्षा दो भेद जानने चाहिएं।

त्रिशुद्धि, दो आसन, बारह आवर्त तथा चार शिरोनति जिस में की जाय वह वन्दना कहलाती है। इस वन्दना का क्रम इस प्रकार जानना चाहिए। जीवादि रहित प्रासुक स्थान में सर्व

प्रथम पूर्व या उत्तर दिशा में मुंह करके कायोत्सर्ग करके खड़ा होवे। तीन वार णमोकार मन्त्र पढ़ कर तीन आवर्त और एक शिरोनति करे। फिर अपनी दाहिनी ओर मुड़ जावे और उस ही प्रकार तीन वार णमोकार मन्त्र पढ़ कर तीन आवर्त और एक शिरोनति करे। इस तरह शेष दोनों दिशाओं में भी करे। फिर जिधर मुंह करके सर्व प्रथम खड़ा हुआ था उधर ही पद्मासन या खड्गासन से रह कर ध्यान करे। उक्त दोनों आसनों के अतिरिक्त और भी वीरासन आदि का विधान है। पर मुख्यतः इन्हीं दो आसनों से सामायिक किया जाता है। वन्दना प्रातः मध्याह्न और सायंकाल की जाती है।

भूतकाल में किये गये पापों की निन्दा, गर्हा करना प्रतिक्रमण कहलाता है। प्रमादादि के वश जो कुछ पाप हो गये हैं ये सब मिथ्या हों, मेरा आत्मा पवित्र बने आदि भावना करना। तथा कायोत्सर्ग कर पंच नमस्कार मन्त्र का जाप्य करना प्रतिक्रमण कहलाता है। प्रतिक्रमण के सात भेद हैं। दिन भर किये गये पापों का सायंकाल में प्रतिक्रमण करना दैवसिक प्रतिक्रमण कहलाता है। १—रात्रि सम्बन्धी पापों का प्रातःकाल प्रतिक्रमण करना रात्रिक प्रतिक्रमण है। २—मार्ग में चलने से जो पाप लगे उसका प्रतिक्रमण करना ऐर्या-पथिक प्रतिक्रमण है। ३—इसी प्रकार पाक्षिक प्रतिक्रमण, ४—चातुर्मासिक प्रतिक्रमण, ५—सांवत्सरिक ( वर्ष भर का प्रतिक्रमण ) ६— और सन्यासमरण की आदि में किया जाने वाला उत्तमार्थ प्रतिक्रमण जानना चाहिए।

आगे प्रत्याख्यानादि आवश्यकों का वर्णन करते हैं :—

भविष्यद्दोषमोपश्च प्रत्याख्यानं जिनैर्मतम् ।
ममत्वविनिवृत्तिस्तु कायोत्सर्गोस्ति शोधकः ॥२६५॥
शरीरे मितकालं हि मुक्तिरूप-फलप्रदः ।
स्वाध्यायं केचिदत्राहुः कायोत्सर्गं व्यपास्य च ॥२६६॥

आगामी काल में लगने वाले दोषों का त्याग करना कि मैं मन, वचन, काय से यह पाप नहीं करूंगा—प्रत्याख्यान नाम का आवश्यक कहलाता है। नाम स्थापना आदि की अपेक्षा इसके भी छह भेद जानने चाहिए।

परिमित काल तक शरीर से ममत्व न रखना कायोत्सर्ग कहलाता है। दोनों पैरों के बीच चार अंगुल का अन्तराल रखते हुए सीधे खड़े हो कर दोनों हाथों को लटका कर नासिकाके अग्रभाग में दृष्टि रखते हुए आत्मचिन्तन करना कायोत्सर्ग की विधि है। इस कायोत्सर्गका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल एक वर्ष है। अन्तर्मुहूर्त से लेकर एक वर्ष के पहले बीच के समय को मध्यम काल समझना चाहिए। यह कायोत्सर्ग आत्मा की शुद्धि करता है और मुक्ति रूप फल को देने वाला है।

कुछ आचार्य आवश्यकों में कायोत्सर्ग को एक पृथक आवश्यक न मान कर इसके स्थान में स्वाध्याय को छठा आवश्यक मानते हैं।

आगे गृहस्थों के षट् आवश्यक बताते हैं :—

देवार्चनोपास्तिरथो यतीनां,
स्वाध्याययुक्तः खलु संयमश्च ।
दानं तपश्चेति च कर्म षट्क-
मावश्यकं स्याद् गृहमेधिनां वै ॥२६७॥

यथाशक्ति गृहस्थेन शुद्धेन मनसा सदा ।
कर्तव्यं कर्मषट्कं हि नान्यथा गृहमेधिता ॥२६८॥

गृहस्थों के छह आवश्यक ये हैं—१-देवपूजा अर्थात्—भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करना । २-गुरूपास्ति—निर्ग्रन्थ गुरु की सेवा करना । ३-स्वाध्याय—आत्मोत्थान के लिए शास्त्रों का अध्ययन करना । ४-संयम—इन्द्रियों को वश में रखना, चञ्चल न होने देना और पांच स्थावर एवं एक त्रस, इस प्रकार छह काय के जीवों की रक्षा करना । ५-तप—इच्छाओं का निरोध करना । ६-दान—शक्ति के अनुसार आहारादि पदार्थों का चारों प्रकार का दान करना । ये गृहस्थ के दैनिक नैतिक कर्म बताये गये हैं । इन्हें गृहस्थ को प्रति दिन करना चाहिए । अन्यथा वह गृहस्थ नहीं है ।

इस प्रकार मुनि एवं गृहस्थों को आवश्यक दैनिक कर्म करना चाहिए । इन आवश्यकों को करते रहना आवश्यकापरिहाणि भावना कहलाती है ।

इस प्रकार संक्षेप से आवश्यकापरिहाणि भावना
का वर्णन समाप्त हुआ ।

अब मार्ग-प्रभावना नामक पन्द्रहवीं भावना का वर्णन करते हैं :—

मार्ग प्रभावना का लक्षण—

**कल्याणमार्गो मार्गः स्यात् जैनमार्गः स उच्यते ।**
**जिनेन्द्रशासनं विद्धि लोकद्वय-हितप्रदम् ॥२६६॥**
**अज्ञानान्धतमःकीर्णो लोकेनाध्वा न लोक्यते ।**
**कल्याणस्य, ततोऽज्ञानाऽपाकृतिः स्यात्प्रभावना ॥३००**

कल्याण का मार्ग ही यहां मार्ग कहा गया है। वह मार्ग 'जैन मार्ग' है। जिनेन्द्रदेव का शासन-मार्ग इस और परलोक दोनों का कल्याणकारी है। जैन मार्ग पर चलने से जीव का यह लोक और परलोक दोनों सुधरते हैं। वह कल्याण का मार्ग लोगों को नजर नहीं आता क्योंकि अज्ञानान्धकार छाया हुआ है। अतः उस अज्ञान को दूर कर सन्मार्ग का दिग्दर्शन कराना ही जैनमार्ग की सच्ची प्रभावना है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अज्ञान को दूर करना ही जैनमार्ग को प्रकट करना है और यही 'मार्गप्रभावना' है। यही आगे कहते हैं:—

**मिथ्यामार्गतिरस्कार-क्षमया विद्यया तथा ।**
**सद्धर्मद्योतनं मार्ग-प्रभावनमिहोच्यते ॥३०१॥**

मिथ्या मार्ग का तिरस्कार करने में समर्थ ऐसी विद्या के द्वारा मिथ्या मार्गकी निस्सारता बताना एवं सत्यधर्मको प्रकट करना मार्ग प्रभावना कहलाता है। द्वेषवृत्ति से किसी की निन्दा करना

बुरा है। लेकिन बुराई को बुराई जानना कोई बुरी बात नहीं। यह तो प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि बुराई की समालोचना करे और संसार को उससे बचावे। अन्यथा ज्ञान का प्रसार ही कैसे हो सकता है। सद्धर्म का उद्योत मिथ्या मार्ग अर्थात् पाखण्ड का खण्डन करने से होता है। इस लिए ज्ञान के प्रकाश द्वारा पाखण्ड का विनाश कर सन्मार्ग का प्रचार करना चाहिए।

प्रभावना किस तरह की जाय इसका उत्तर—

**निजात्मा सद्‌तः पूर्वं रत्नत्रयसुतेजसा।**
**प्रभावनीयो लोकस्तु तपोज्ञानार्चनादिभिः ॥२०२॥**

सबसे पहले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी तेज से अपने आत्मा की प्रभावना करनी चाहिए। इसके पश्चात् तप, ज्ञान, पूजा, सत्कार आदि से संसार को प्रभावित करना चाहिए।

प्रभावना के दो भेद हैं एक आत्म-प्रभावना और दूसरी परात्म-प्रभावना जिसे बाह्य-प्रभावना या लोक-प्रभावना भी कहते हैं। सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय के पालन करने से आत्मा उत्तरोत्तर पवित्र होता जाता है और अन्त में एक दिन संसार के समस्त पदार्थों से राग-द्वेष छोड़ कर कर्मशत्रुओं का नाश कर अपने आप में रमण करने लग जाता है। इसी अवस्था को मुक्तावस्था या निर्वाणावस्था कहा जाता है। आत्मा की सच्ची प्रभावना यही है और यही उत्तम एवं उपादेय है। दूसरी प्रभावना—जो

परात्म प्रभावना है—वह भी ग्रहणीय है। जैनधर्म का अतिशय प्रकट करना—इस प्रकार के धार्मिक कृत्य करना जिनसे जिनधर्म का माहात्म्य प्रकट हो—परात्मा प्रभावना कहलाती है। चार प्रकार के दान करना, अन्तरंग एवं वाह्य तप करना, संसार को ज्ञान सिखाना, जिनेन्द्र के भक्ति मार्ग का प्रचार करना आदि प्रभावना के ही कारण हैं। उत्सव करना, जिनेन्द्र देव की रथ-यात्रा निकालना आदि सभी कार्य प्रभावना के कारण माने गये हैं। लेकिन एक ही प्रकार के कारण सब काल एवं क्षेत्र में प्रभावना के कारण हों यह कोई वात नहीं—यही आगे वताया जाता है—

**हेतुः प्रभावनायाः कालक्षेत्राद्यपेक्षया नित्यम् ।**
**विदुषा विवर्तनीयोऽन्यथोन्नतिर्नैव धर्मस्य ॥३०३॥**

विद्वान लोगों को चाहिए कि प्रभावना के कारण काल और क्षेत्र की अपेक्षा हमेशह वदलते रहें अन्यथा सदा एक ही कारण को अपनाये रहने से धर्म की उन्नति, प्रभावना नहीं होती।

धर्म-प्रभावना का मतलव है लोगों का धर्म ग्रहण करने के लिये या धर्म सेवन के लिये प्रभावित होना। जिन कार्यों को देखकर लोग धर्म-सेवन के लिए उत्साहित होते हैं वे ही धर्म-प्रभावना के कारण हैं। ये कारण सदा एक से नहीं रहते। परिस्थिति के कारण इनमें परिवर्तन होता रहता है। किसी भी धर्म की वास्तविक प्रभावना के कारण तो उसके सच्चे कर्तव्य-निष्ठ अनुयायी ही हैं। जिस धर्म के अनुयायी परोपकारी कर्तव्य-शील, धर्मात्मा होते हैं उसका प्रभाव लोगों के हृदय पर तत्काल पड़ता

है। स्वामी समन्तभद्र अकलंकदेव आदि आचार्यों के व्यक्तित्व का तत्कालीन जनता पर स्थायी प्रभाव पड़ने के कारण जैनधर्म का प्रचार जैसा हुआ था वैसा अन्य किसी भी कारण से न हो सका। इसी लिए कहा गया है कि अगर सच्ची प्रभावना करना है तो पहले अपने आपको रत्नत्रय के तेज से प्रभान्वित करो।

जिस धर्म के अनुयायी समयोपयोगी दान देने वाले, प्रतिभा-सम्पन्न, विद्वान्, परोपकारी और जन-समाज की सेवा करने वाले होते हैं, वह ही धर्म अपना प्रभाव दूसरों पर पटक सकता है। पर वड़े दुःख की वात है कि जैन-समाज इस तथ्य को नहीं समझता और रूढ़ियों का गुलाम होकर अपने समय, शक्ति और द्रव्य का दुरुपयोग कर रहा है। इस समय कौनसा कार्य करने से हमारे धर्म की प्रभावना हो सकती है-इसका विचार हम विलकुल नहीं करते। यही कारण है कि हमारा ह्रास होता जा रहा है। हमारे मन्दिरों की, प्रतिमाओं और शास्त्र भण्डारों की क्या दशा है-इस पर कुछ भी विचार न करके आवश्यकता नहीं होने पर भी हम नये मन्दिर वनवाते हैं और नई प्रतिमाएं प्रतिष्ठित करवाते हैं और समझते हैं कि इससे धर्म की प्रभावना हो रही है। लेकिन ऐसा ख्याल करना भयंकर भूल है।

जिन मन्दिर का निर्माण करना, जिनेन्द्र देव की मूर्ति की प्रतिष्ठा करवाना, उत्सव कराना, रथयात्रा एवं जुलूस निकालना गजरथ निकलवाना आदि भी धर्म की प्रभावना के कारण हो सकते हैं पर सदा इन्हीं कारणों पर नहीं चिपटे रहना चाहिये।

देश और काल के अनुसार इनमें परिवर्तन की आवश्यकता है। एक समय ऐसा था जब प्रतिष्ठाएं आदि कराने से जैनधर्म का प्रभाव फैलता था और लोग जैनधर्म को स्वीकार करते थे। लेकिन आज वह जमाना नहीं रहा। आज हमें प्रतिष्ठाओं की आवश्यकता नहीं। हजारों मन्दिर और करोड़ों मूर्तियां मौजूद हैं। ऐसे बहुत से मन्दिर हैं जहां समय पर प्रक्षाल-पूजन नहीं होता। फिर नवीन मन्दिर बनाकर व प्रतिष्ठा कराकर किस प्रकार पुण्य सम्पादन एवं धर्म-प्रभावना की जा सकती है। सच तो यह है कि हमने इन उत्सव आदि के तथ्य को नहीं समझा और रूढ़ि की बतौर इनका पालन करने लग गये।

देखा जाय तो हमारे सब काम धर्म-प्रभावना से उल्टे हैं। जैन-धर्मानुयायियों से हमारी कोई सहानुभूति नहीं है। हम जैन-धर्म के प्रचार करने में कोई मदद नहीं देते, बल्कि हम तो दिन व दिन जैनधर्म के मानने वालों को धक्का देकर इस पवित्र जैनमार्ग से हटा रहे हैं-हजारों व्यक्तियों को धर्म-च्युत कराने में सहायक बन रहे हैं, फिर हम धर्म प्रभावना के नाम पर उत्सवादि करें-यह कहां तक उचित है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम बिछुड़े हुए भाइयों को गले लगावें और नवीन जैन बनाने का प्रयत्न करें। हमारे ऐसे कृत्यों को और व्यर्थ के क्रिया-काण्डों को देख कर हमारी नवीन पीढ़ी—भविष्य के आधार स्तम्भ-तो इस जैनधर्म से विरक्त से होते जारहे हैं। यदि हम भगवान महावीर के सच्चे उपासक हों तो हमारी वास्तविकता का

दूसरों पर भी अवश्य प्रभाव पड़ेगा। पर वास्तव में हम उनके सच्चे अनुयायी नहीं हैं। धर्म का प्रभाव उस धर्म के मानने वालों को देख कर पड़ता है। अहिंसा के उपासक होकर भी अहिंसा के तत्व को न समझें, सहानुभूति और दया के नाम पर अपना स्वार्थ साधन करते रहें, एक दूसरे की उन्नति को देख कर ईर्ष्या करें और उसे गिराने की चेष्टा करें, आदि कृत्यों से धर्म प्रभावना कैसे हो सकती है ?

आज का युग वैज्ञानिक युग है। प्रत्येक बात आज विज्ञान की कसौटी पर कसी जाती है। जो बात खरी उतरती है दुनियां उसी को मानती है। जैनधर्म वैज्ञानिक और इसी लिए सार्वजनिक और सार्वभौमिक धर्म कहा जाता है। लेकिन यह आज कहना ही कहना मात्र प्रतीत होता है। जैनधर्म के अनुयायी बनने का ढोंग रचने वालों ने आज धर्म के नाम पर बहुत सी बुराइयां पैदा करदी हैं। इस लिए आवश्यकता है कि हम भगवान महावीर के असली सिद्धान्तों को समझें और देश के कोने २ में उनके सत्य तत्व को फैलावें। तिजोरियों में बंद पड़े हुए सोने की कोई उपयोगिता नहीं होती। जब दुनियां के सामने वह आता है तो वह बिना किसी के कहे सुने उस पर मुग्ध हो जाती है। जैनधर्म के असली सिद्धान्तों को आप दुनियां के सामने खोल कर रखिये और फिर देखिये दुनियां किस तरह आपके सिद्धान्तों पर मुग्ध होती है। आज विश्व के कोने २ में युद्ध की लहर दौड़ रही है और युद्ध का वीभत्स रूप हमारे सामने है। पर युद्ध अप्राकृतिक

है अतः वह सर्वदा नहीं रह सकता। संसार इस युद्ध से घबरा गया है अब वह शान्ति चाहता है और वह शान्ति मिलेगी आध्यात्मिकता से। जैनधर्म आध्यात्मिक धर्म है।

आप इस आध्यात्मिक तत्वको दुनियां को दिखाइये लाखों जैनी वन जाना एक साधारण सी बात होगी। पर केवल ऐसा लिख देने मात्र से कुछ न होगा। इसके लिये आवश्यकता है त्याग और सच्ची लगनकी। धन लगाकर प्रचारक तैयार कीजिए। देश में सब जगह प्रचारकों को भेजिए। लेकिन यह खयाल रखिये कि वे प्रचारक सच्चे हों। सच्ची सेवा करने वाले प्रचारक ही जैनधर्म को फैला सकते हैं। जैनधर्म की प्रभावना तभी होगी जब प्रत्येक जैनी यह प्रतिज्ञा करले कि मैं दिनभर में कम से कम इतना समय तो इस पुनीत धार्मिक कार्य में अवश्य लगाऊंगा।

आज इसी प्रकार धर्म से प्रभावना हो सकती है और समयानुकूल हमें इसे अपनाना भी चाहिये। यदि इन वातों का कोई विरोध करे तो उसकी चिन्ता न करनी चाहिये। अच्छे कामों में विघ्न आया ही करते हैं :—

**प्रभावनाविघ्नकरो हि रूढिवादोऽस्ति लोकेऽत्र मतं द्वयन्न।**
**कालाद्यपेक्षां च ततः समीक्ष्य प्रभावनायां मनसा सजंतु।२०४**

रूढ़ियां प्रभावना में विघ्न डालने वाली हैं। इसे मानने में किसी को भी आनाकानी नहीं होनी चाहिये। इस लिये परम्परा की कोई परवाह नहीं करके देश और काल की मांग का

विचार करते हुए हमें धर्म की प्रभावना करना चाहिये। जो द्रव्य क्षेत्र काल और भाव का विचार किये विना केवल परम्परा का पोषण करता है वह धर्म का प्रभावक कभी नहीं कहा जा सकता धर्म प्रभावक को यह देखना चाहिये कि किस समय कहां किस वस्तु की आवश्यकता है। जो आवश्यकता अनावश्यकता का विचार नहीं करता वह धर्म और धर्म को प्रभावना दोनों को ही नहीं समझता।

**कालाद्यपेक्षां प्रसमीक्ष्य पूर्वे,**
**महर्षयोप्यत्र विवेकमापुः ।**
**ततः प्रसारं गतवान् हि जैनो,**
**धर्मः पुरा विश्वहितङ्करोऽयम् ॥३०५॥**

प्राचीन महर्षियों ने भी धर्म प्रभावना में काल क्षेत्रादि की अपेक्षा का पूरा खयाल रखा है। अगर ये द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा का विचार न करते तो जैनधर्म का दुनियां में कभी इतना प्रचार नहीं होता। जैनाचार्यों की शासन भिन्नता से इस बात का अच्छी तरह पता चल जाता है कि उन्होंने समय और स्थान की मांग का कभी तिरस्कार नहीं किया। जहां जैसी आवश्यकता देखी वहां वैसा ही करने की उन्होंने आज्ञा दी। इसी से विश्व-हितकारी यह जैनधर्म संसार में इतने विस्तार को प्राप्त हो सका और अभी तक जीवित है।

**कालानुकूलं न चलन्ति लोके,**

क्षेत्रानुकूलं च न ये मनुष्याः ।
ते सर्वतःपातमवाप्य शीघ्रं,
हासं व्रजंतीह महाविमूढ़ाः ॥२०६॥

जो मनुष्य काल के अनुसार नहीं चलते और न क्षेत्र के अनुसार चलते हैं उनका सब जगह से पतन होता है और वे मूर्ख दुनियां में उपहासास्पद बनते हैं। अतः आवश्यक है कि हम जैनधर्म की प्रभावना यदि करना चाहते हैं तो देशकालानुसार प्रभावना के कारणों को अपनावें। आज जिन बातों से जैनधर्म की प्रभावना होती हो उनको शीघ्रातिशीघ्र ग्रहण करके धर्म की प्रभावना करें। यही मार्ग प्रभावना का अर्थ है।

इस प्रकार संक्षेप में मार्ग प्रभावना भावना का
वर्णन समाप्त हुआ।

अब प्रवचन-वात्सल्य नामक सोलहवीं भावना का वर्णन करते हैं :—

स्यात्सधर्मा प्रवचनः वात्सल्यं तत्र यद्भवेत् ।
धेनोर्वत्सेव तत्प्रोक्तं वात्सल्यं परमं खलु ॥२०७॥

जो समान धर्मको मानने वाले होते हैं उन्हें 'प्रवचन' कहा जाता है उन प्रवचनों-साधर्मी मनुष्यों में-जो प्रेम होता है उसे 'प्रवचन वात्सल्य' कहते हैं। जिस प्रकार गौ अपने बछड़े से प्रेम

करती है उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य को अपने साधर्मी भाइयों से प्रेम करना चाहिये। संसार में गाय और बछड़े का प्रेम विख्यात है। वह अपने बच्चे से निःस्वार्थ प्रेम करती है। उसकी रक्षा के लिए वह अपने जीवन की भी परवाह नहीं करती। अगर शेर भी सामने आजावे तो वह उसे बचाने के लिए स्वयं मर मिटेगी। इसी तरह हमें चाहिये कि धर्मात्माओं से निष्कपट प्रेम करें और उनकी रक्षा से अपनी रक्षा समझें।

वत्सलत्वेन चैतेन धर्मवृद्धिः प्रजायते।
मिथः स्नेहाभिवृद्धिश्च सधर्मजनतासु च ।३०८।

इस वात्सल्य से धर्म की वृद्धि होती है। आपस में स्नेह, सहानुभूति एवं एकात्मता बढ़ती है। इस लिए धार्मिक जनों में परस्पर प्रेम संचार की बहुत आवश्यकता है।

इस प्रवचन वात्सल्य भावना का महत्व बहुत ज्यादा है। परन्तु आज हमने इसके महत्व को भुला दिया है और इस वात्सल्य के बजाय वैर की भावना बहुत ज्यादा व्याप्त हो रही है। साधर्मी भाइयों की बात तो दूर जाने दीजिये, सहोदर भाइयों में ही आज प्रेम नहीं है वे भी एक दूसरे को देख कर जलते हैं। सहानुभूति और प्रेम तो हम में से उठ गया—अगर यह भी कह दिया जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

दूसरे के उत्कर्ष को देख कर जलना—एक साधारण सी बात होगई है। यदि किसी को यह मालूम हो जाय कि अमुक भाई की नौकरी लग रही है या उसे कुछ लाभ हो रहा है या

उसकी तरक्की हो रही है तो वह शीघ्र ही उसके मार्ग में रोड़े अटकाने का प्रयत्न करने लग जायगा। मेरा मतलब यह नहीं है कि सभी ऐसे हैं। वहुत से सज्जन अच्छे कर्तव्यनिष्ठ भी मिलेंगे पर अधिक संख्या ऐसे ही लोगों की है जो साधर्मियों की हानि करने में तत्पर रहते हैं। किसी का नुकसान करने में उन्हें क्या मिलेगा—यह वे नहीं सोचते। उनकी तो यह आदत सी पड़ जाती है कि किसी का काम विगाड़ें।

वैसे देखा जाय तो जैन जाति सब से ज्यादा मालदार समझी जाती है परन्तु वेकार और गरीवों की यहां भी कमी नहीं है, पढे लिखे होने पर भी आज वहुत से भाई वेकार घूमा करते हैं। पर मालदार पूंजीपतियों को उनकी तरफ ध्यान देने का अवकाश नहीं। ऐशो आराम की सामग्रियों को जुटाने में अपना जहां नाम हो वहां पैसा देने में हम भले ही तत्पर रहें पर गरीवों की चिल्लाहट और उनका रोना हमें सुनाई नहीं पड़ता। इतर समाजों में वहुत से वड़े २ औद्योगिक कारखाने हैं जहां हजारों भाई अपना पेट पालते हैं। पर जैनों में ऐसी कोई योजना नहीं जहां से गरीवों को खाने भर को अन्न मिल सके। जैनों में यद्यपि दान की प्रवृत्ति अच्छी है पर वह दान कहां देना चाहिये? उसकी उपयोगिता कहां है आदि वातें दानी महाशय नहीं विचारते। वस जहां नाम हो वहीं धन लुटाया जाता है।

उक्त वातें इस लिए लिखी गई हैं कि स्वाध्याय-प्रेमी इधर ध्यान दें और अपने साधर्मी भाइयों के प्रति प्रेम और सहानुभूति

रक्खें। एक दूसरे के उत्कर्ष को देख कर ईर्ष्या न करें अपितु उसके उत्साह को बढ़ावें। अपने साधर्मी मनुष्यों से प्रेम रखना महान् पुण्य एवं तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के कारणों में से एक कारण है।

**संघशक्तिर्हि लोकेऽस्मिन् उत्कर्षं लभते ननु।**
**प्राप्यते सा तु चैतेन तस्मादेतत्समाश्रयेत् ॥३०६॥**

संसार में संघशक्ति ही उत्कर्ष को प्राप्त होती है। और वह संघशक्ति प्रवचन वत्सलतासे प्राप्त होती है अतः प्रवचन वत्सलता को अपनाना चाहिये।

प्रत्येक समाज व देश संगठन के बल पर ही अपनी उन्नति करता है। कहावत प्रसिद्ध है कि 'अकेला चना भाड़ को नहीं फोड़ सकता' इसी प्रकार एक व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता परन्तु सम्मिलित शक्ति से असम्भव कार्य भी सम्भव बन जाते हैं। उन्नति या उत्थान के कार्यों में बाधाएं आती ही हैं। अकेला व्यक्ति उन बाधाओं से विचलित होकर कर्तव्य-भ्रष्ट हो सकता है पर बहुत से आदमियों के मिलने पर बाधाएं अपना प्रभाव नहीं जमा सकतीं। 'जमाअत करामात' यह उर्दू की कहावत सिखाती है कि मिल कर रहो, संगठन बनाओ फिर देखो मुश्किलें भी आसान बन जाती हैं।

आज के जमाने में एक व्यक्ति की आवाज को-मांग को कोई नहीं सुनता पर वही बात यदि एक सम्मिलित शक्ति से

निकलती है, तो वड़े २ राजा महाराजा तक उस वात को मानने से इन्कार नहीं कर सकते। क्योंकि वे जानने हैं कि यह एक व्यक्ति की नहीं अपितु एक समूह की आवाज है। इसी प्रकार प्रत्येक वात के लिए विचार लीजिये। आत्मिक, धार्मिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय उन्नति के लिये संगठनकी वहुत वड़ी आवश्यकता है। विना संगठन के मनुष्य कुछ नहीं कर सकता।

पर वह संगठन हो कैसे ? इसका उत्तर ग्रन्थकार दे रहे हैं कि 'प्रवचन वत्सलत्व' भावना को अपनाओ। साधर्मी भाइयों से वात्सल्य रखो तव संगठन अपने आप वन जायगा। पन्द्रहवीं भावना मार्गप्रभावना में आचार्यों ने वताया कि संसार को जैनधर्म का सन्देश सुनाओ उन्हें समझाओ और इस सत्य तत्व को अंगीकार कराओ। इसका अर्थ यह है कि संसार को जैनी वनाओ। और फिर सोलहवीं भावना में कहते हैं कि प्रत्येक साधर्मी से गाय वछड़े का सा प्रेम रखो। कितना ऊंचा सिद्धान्त है। यदि आज प्रत्येक जैनी इन वातों को अंगीकार करे तो संसार के समस्त झगड़ों और लड़ाइयों को देखते देखते मिटाया जा सकता है। वात्सल्य की शक्ति अपरम्पार है।

इस प्रकार प्रवचनवत्सत्व नामक सोलहवीं भावना का संक्षिप्त वर्णन समाप्त हुआ॥

## ❀ अंतिम मंगल ❀

इत्थं षोडशभावना गणधरैः कर्मक्षयार्थं पुरा ।

सूक्ता ये मनसाऽमलेन विधिवद् भव्या सदोपासते ॥

तेषामैहिकसौख्यशांतिरचला स्वर्गापवर्गद्वयम् ।

सर्वं सिद्ध्यति तेऽन्ततो हि जगतां वन्द्या भवन्ति ध्रुवम् ॥

इस तरह पहले गणधरोंने कर्मक्षय के लिए जिन षोडश-कारण भावनाओं को कहा है उनकी जो भव्य जीव विधि-पूर्वक निर्मल चित्त से हमेशह उपासना करते हैं उनको सर्व प्रकार का सांसारिक सुख और शान्ति प्राप्त होती है, स्वर्ग और मोक्ष मिलती है और वे अन्त में निश्चय से सारे संसार के पूजनीय होते हैं ।

❀ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ❀